
















ब्रह्मा[illegible]वामी.

ॐ श्री ब्रह्मानन्द स्वामी





प्रस्तावना.

ॐ सर्वमहाशय सज्जनोंको विदित होकि योगविद्या जीवात्माकी उन्नतिका एक मुख्य साधन है। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहासादिग्रंथोंमें सर्वत्र योगका प्रतिपादन कियाहै। भारतवर्षके सिवाय चीन, तिबत, जापान, अमेरिकादिदेशोंमें तथा वेदांत, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णवादि सर्वमतोंमें योगका आदर है। महादेव, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पतंजलि, वसिष्ठ, वामदेवादिक बडेबडे देवता ऋषि मुनियोंनें योगका साधन किया इतिहासोंमें प्रसिद्ध है। और जोजो मनुष्यशक्तिसे विलक्षण उत्कृष्ट गुण ऋषिमुनियोंमें सुननेमें आतेहैं सो सर्व योगविद्याके प्रभावसे हि उनको प्राप्त हुयेथे जिनको सुनकर आजकलके बुद्धिहीन लोक उनको असंभव बतलाते हैं। सो इस योगविद्याके प्रतिपादक पातंजल, गोरक्षसंहिता, योगियाज्ञवल्क्यसंहिता, शिवसंहिता, योगबीज, हठप्रदीपिकादिक अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं सो तिनमें भिन्नभिन्न प्रकरणोंमें योगके साधनोंका वर्णन किया है। सो हमने साधक पुरुषोंको सुगम बोधके लिये तिन सर्वयोगके ग्रंथोंमेंसे सार निकालकर यह [illegible] ग्रंथ निर्माण किया है। सो इसमें क्रमसे योगके आठ अंगोंका विधिपूर्वक निरूपण किया है। इसमें विशेषता यह हैकि, जगाजगापर अपने अनुभवके अनुसार सर्व योगयुक्तियांका वर्णन किया गया है। सो इस ग्रंथके अनुसार जो पुरुष योगाभ्यास करेगा सो अवश्य सिद्धिको प्राप्त होवेगा। सो यह ग्रंथ रा. रा. भाई प्रभाशंकर गवरीशंकर ओझा भावनगरवालाकी प्रेरणासे [illegible] ादिक ग्रंथोंके रचनेहारे स्वामि [illegible] निर्माण किया है, तथा [illegible] शेठ [illegible] आपने [illegible] प्रसिद्ध किया है इति।

स्वामि [illegible]ंद.



शुद्धिपत्रम्

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२२	१०	क्षणमात्र	क्षणमात्रं
५९	१४	सगुण	सगुणं
६२	११	कुंडलोज्ज	कुडलोज्जल
८४	१	बंघनसे	बंधनसे









श्रीरमापतये नमः ।

अथ श्री योग रसायणम्



मंगलम् ।

योगनिद्रां समासाद्य यः शेते शेषविष्टरे ।
तस्य पादांबुजं नित्यं देवस्य प्रणमाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ–योगरूपी निद्राको ग्रहणकरके जो शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं ऐसे जो दिव्यस्वरूप विष्णुभगवान् हैं तिनके चरणकमलोंके प्रति मैं सर्वदाकाल नमस्कार करताहुं इति ॥ १ ॥

योगिराजं शिवं चापि नत्वा गुरुपदांबुजम् ।
योगाचार्यानशेषेण योगं वक्ष्यामि सिद्धये ॥ २ ॥

अर्थ–सर्व योगियोंके मुख्य अधिपति जो शि-



वजी हैं तिनको नमस्कारकरके और अपने गुरुके चरणकमलोंको नमस्कारकरके तथा योगविद्याके आचार्य जो मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ पतंजलि याज्ञवल्क्यादिक हैं तिन सर्वको नमस्कारकरके साधकपुरुषोंको मोक्षपदकी सिद्धिके लिये योगविद्याका निरूपण करताहुं इति ॥ २ ॥

प्राणापानसमायोगो योगश्चित्तात्मनोस्तथा ।
यत्र जीवेशयोर्योगस्तं योगं नित्यमभ्यसेत् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसकरके प्राण और अपानकी एकता होवेहै चित्त और आत्माकी एकता होवेहै तथा जीव और ईश्वरकी एकता होवेहै ऐसा जो योग है तिसका मुमुक्षुपुरुषोंको सर्वदाकाल अभ्यास करना योग्य है इति ॥ ३ ॥

क्रियाजालान्यनेकानि प्रभवंति न मुक्तये ।
योगमेवाभ्यसेन्नित्यं बुधो मोक्षाय केवलम् ॥ ४ ॥

अर्थ–अनेकप्रकारकी जप तप तीर्थ दानादिक



जो स्थूलक्रियायोंके समूह हैं सो मुक्तिके लिये साक्षात् समर्थ नहि होसके हैं अर्थात् तिनसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति नहि होवेहै यातें बुद्धिमान् पुरुषको संसारबंधनकी मुक्तिके लिये केवल योगकाहि अभ्यास करना चहिये इति ॥ ४ ॥

तत्वज्ञानेन कैवल्यं ज्ञानं योगमयं तथा ।
विना योगेन यज्ज्ञानं नैव तन्मोक्षकारणम् ॥५॥

अर्थ—तत्वज्ञानसे कैवल्यमोक्ष होवेहै और सो ज्ञान योगरूपहि है और जो योगके विना शुष्कज्ञान है सो मुक्तिका कारण नहि होवेहै इति ॥ ५ ॥

अणिमादिपदं येन प्राप्य जित्वा तथांतकम् ।
जीवन्मुक्तश्चरेद्योगी योगमार्गं तमाश्रयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसकरके अणिमा महिमादिक सिद्धियोंको प्राप्त होयकर और कालको जीतकरके जीवन्मुक्त भया योगी स्वतंत्र जगत्में विचरताहै तिस योग-

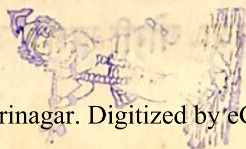
मार्गका बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य आश्रयण करना योग्य है इति ॥ ६ ॥

शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद्बुधः ।
नहि दीपकवार्तायामंधकारो विनश्यति ॥ ७ ॥

अर्थ–शास्त्रोंके शुष्कविवादोंमें बुद्धिमान् पुरुषको सर्व आयु व्यतीत नहि करनीचाहिये क्योंकि जैसे दीपककी वार्ता करनेसे अंधकारका नाश नहि होवेहै तैसेहि केवल शास्त्रोंकी वार्ता करनेसे संसार बंधनकी निवृत्ति नहि होवेहै इति ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु सक्तानां देहाध्यासवतां नृणाम् ।
आलस्यहतबुद्धीनां शास्त्रं स्यादवलंबनम् ॥ ८ ॥

अर्थ–इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त और शरीरमें अध्यासवाले तथा आलस्यकरके क्षीणभई बुद्धिवाले जो पुरुष हैं सो अष्टांगयोगसाधनेका परिश्रम नहि करसकते हैं यातें तिनके लियेहि केवल शास्त्रका आलंबन है इति ॥ ८ ॥





तस्माच्छास्त्रं विचार्यादौ पश्चाद्योगं समभ्यसेत् ।
यथापूर्वर्षयश्चक्रुर्वसिष्ठाद्याः शुकादयः ॥ ९ ॥

अर्थ—यातें विवेकी पुरुषको प्रथम शास्त्रोंका विचारकरके पश्चात् योगका अभ्यास करना चहिये जैसे कि वसिष्ठादिक और शुकदेवादिक पहलेके ऋषि-मुनि करते भये हैं इति ॥ ९ ॥

शैववैष्णवशाक्तेषु मतेषु निखिलेष्वपि ।
सर्वत्र विहितो योगस्ततस्तं साधयेत्सुधीः ॥ १० ॥

अर्थ—किंच शैव वैष्णव शाक्तादिक सर्वमतोंमें सर्वत्र योगका विधान किया है यातें बुद्धिमान् पुरुषको तिस योगकी अवश्य साधना करनी योग्य है इति ॥ १० ॥

आलोड्य योगशास्त्राणि स्वस्यानुभवतस्तथा ।
सारभूतं प्रवक्ष्यामि विधानं योगसाधने ॥ ११ ॥

अर्थ—पातंजलदर्शन शिवसंहिता याज्ञवल्क्य-





संहिता गोरक्षशतक हटयोगप्रदीपिकादि अनेक योगशास्त्रोंको मथनकरके तथा अपने अनुभवके अनुसार योगसाधन करनेकी जो विधि है तिसको संक्षेपसे सारभूत निरूपण करताहुं इति ॥ ११ ॥

तत्र योगविधौ ज्ञेयं द्वाराणां तु चतुष्टयम् ।
विनेशानुग्रहाज्जंतोर्दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥ १२ ॥

अर्थ—तहां प्रथम योगसाधनमें चार द्वार जानने चहिये जो कि ईश्वरकी अनुग्रहके विना हरएक जीवको प्राप्त होने अतिकठिन हैं इति ॥ १२ ॥

प्रथमं विषयत्यागो द्वितीयमनुकूलता ।
तृतीयं गुरुसंयोगश्चतुर्थं चेश्वरार्चनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रथमतो स्त्रीआदिकविषयोंका परित्याग होना और दूसरी सर्वप्रकारसे व्यवहारकी अनुकूलता होनी तथा तीसरे योगविद्याके जाननेवाले गुरुका समागम होना और चौथा ईश्वरका आराधन करना इति ॥१३॥



द्वाराण्येतानि योगस्य चत्वारि मुनयो विदुः ।
नैतैर्विना भवेत्सिद्धिर्जन्मकोटिशतैरपि ॥ १४ ॥

अर्थ—यह चार योगके मुनिलोकोंने मुख्य द्वार कथन कियेहैं क्योंकि इनकेविना कोटिजन्मोंमेंभी योगकी सिद्धि नहि होसके है इति ॥ १४ ॥

तथाष्टावेव योगस्य ज्ञेयान्यंगानि साधकैः ।
येषां साधनतो जंतुः कैवल्यं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा योगके आठ अंग साधकपुरुषोंको जानने चहिये जिनके साधन करनेसे यह जीव कैवल्यमोक्षपदको प्राप्त होवेहै इति ॥ १५ ॥

यमश्च नियमश्च स्यादासनं प्राणसंयमः ।
प्रत्याहारस्तथा पश्चाद्धारणा ध्यानमेव च ॥१६॥
समाधिरिति योगस्य विदुरंगानि योगिनः ।
लक्षणं च क्रमात्तेषामुच्यते मुनिसंमतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार

धारणा ध्यान और समाधि यह योगके आठ अंग योगी लोकोंने कथन कियेहैं अब क्रमसे तिन आठोंके पतंजलि याज्ञवल्क्यादि मुनिलोकोंके मतके अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण निरूपण करतेहैं इति ॥ १७ ॥

अथ यमः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
यमः पंचविधः प्रोक्तो मुनिभिर्योगचिंतकैः ॥१८॥

अर्थ—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस भेदसें योगके जाननेहारे मुनिलोकोंनें पांच प्रकारका यम कथन कियाहै इति ॥ १८ ॥

अहिंसा सर्वभूतानां सर्वथा द्रोहवर्जनम् ।
सत्यं स्याज्जीवजातस्य हितं वाक्यं प्रियं च यत् १९

अर्थ—तिनमें मन वाणी शरीरकरके सर्वप्रकारसे सर्वभूतप्राणियोंको जो दुःख नहि देनाहै सो अहिंसा कहियेहै तथा जो सर्वजीवोंका हितकारक और प्रियवचन बोलनाहै सो सत्य कहियेहै इति ॥ १९ ॥

अस्तेयं परद्रव्याणामनादानं विनाज्ञया ।
सर्वथा मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यमुदीरितम् ॥ २० ॥

अर्थ—पराई वस्तुवोंका मालिककी आज्ञाकेविना जो ग्रहण नहि करनाहै सो अस्तेय कहियेहै तथा सर्वप्रकारसे जो मैथुनका परित्याग करनाहै सो ब्रह्मचर्य ऋषिलोकोंनें कथन कियाहै इति ॥ २० ॥



योगोपकरणादन्यपदार्थानामसंग्रहः ।
अपरिग्रहणं तद्धि कथितं मुनिपुंगवैः ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा योगसाधनकी उपयोगी सामग्रीके सिवाय विशेषपदार्थोंका जो संग्रह नहि करना है सो अपरिग्रह श्रेष्ठ मुनिलोकोंने कथन किया है इति ॥ २१ ॥

अहिंसया भवेन्मैत्री सत्येनामोघवाक्यता ।
अस्तेयाद्रत्नलाभश्च बलं स्याद्ब्रह्मचर्यतः ॥ २२ ॥
अपरिग्रहणादात्मविचारो जायते ध्रुवम् ।
योगिनो यतचित्तस्य यमानां परिपाकतः ॥२३॥

अर्थ—अब यमोंके भिन्नाभिन्न फल कथन करते

हैं अहिंसा पालन करनेसे सर्वभूत प्राणियोंसे मित्रता होवे है और सत्यभाषण करनेसे अमोघवाणी होवे है तथा अस्तेयसे नानाप्रकारके मनोवांछित पदार्थोंकी प्राप्ति होवेहै और ब्रह्मचर्यसे मानसिकशक्तिकी वृद्धि होवेहै तथा अपरिग्रहसे अध्यात्मविचारकी उत्पत्ति होवे है इस प्रकारसे चित्तके जीतनेवाले योगीको यमोंकी परिपक्का-वस्थामें उक्त फलोंकी प्राप्ति हौवे है इति ॥२२॥२३॥

अथ नियमः ।

शौचं तोषस्तपश्चैव जपश्चेश्वरचिंतनम् ।
पंचधा नियमश्चापि विज्ञेयः साधकोत्तमैः ॥ २४ ॥

अर्थ–शौच संतोष तप जप और ईश्वरका चिं-तन इस भेदसे नियमभी साधकपुरुषोंको पांच प्रकारका हि जानना चहिये इति ॥ २४ ॥

शौचं शुद्धिर्हि देहस्य मनसश्च निगद्यते ।
यथालाभेन तुष्टिस्तु संतोषः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

अर्थ–तिनमें शरीर और मनकी जो शुद्धि है सो



शौच कहिये है तथा प्रारब्धयोगसे जो द्रव्यादिक प्राप्त होवे उसीमे जो तृप्ति माननी है सो ऋषिलोंकोंने संतोष कथन किया है इति ॥ २५ ॥

तपश्चान्द्रायणादीनां व्रतानां यद्विधारणम् ।
प्रणवादि पवित्रस्य मंत्रस्यावर्तनं जपः ॥ २६ ॥

अर्थ—चांद्रायणादिक व्रतोंका जो विधिपूर्वक धारण करना है सो तप कहिये है तथा ओंकारादिक पवित्रमंत्रका जो वारंवार उच्चारण करना है सो जप कहिये है इति ॥ २६ ॥



मनसा भक्तिभावेन यदीशस्य निरंतरम् ।
स्मरणं सर्वगत्वेन तदेवेश्वरचिंतनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—नम्रता और प्रेमभावसे सर्वदाकाल मनसे जो ईश्वरका सर्वव्यापकरूपसे स्मरण ध्यान करना है सो ईश्वरका चिंतन कहिये है इति ॥ २७ ॥

शौचाद्देहे विरागः स्यात्संतोषादुत्तमं सुखम् ।
तपसा सिद्धिलाभश्च जपाद्देवसमागमः ॥ २८ ॥

ईश्वराराधनात्सिद्धिः समाधेर्जायते ध्रुवम् ।
योगिनो नियमानां च परिपाके न संशयः ॥२९॥

अर्थ–अब नियमोंके फल निरूपण करते हैं शौच पालनकरनेसे अपने तथा पराये शरीरको मलिन समझकर ग्लानिसे वैराग्य होवे है और संतोषसे शांतिजन्य परमसुखकी प्राप्ति होवे है तथा तप करनेसे अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होवे है और जपकरनेसे इष्टदेवका समागम होवे है तथा ईश्वरके आराधनसे समाधिकी सिद्धि होवे है इस प्रकारसे नियमोंकी परिपक्वावस्थामें योगीको उक्त फलोंकी प्राप्ति होवे है इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

यमैश्च नियमैश्चापि योग्यः स्याद्योगसाधने ।
अनादरेण चैतेषां न क्वचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥३०॥

अर्थ–उक्त रीतिसे यम और नियमोंकरके युक्त भयाहि योगी पुरुष योगसाधन करनेमें योग्य होवे है

और यमनियमोंके अनादर करनेसे कदाचित्भी सिद्धिको नहि प्राप्त होसके है इति ॥ ३० ॥

तस्मादतिप्रयत्नेन सेवनीया निरंतरम् ।
यमाश्च नियमाश्चापि योगेप्सुभिरखंडिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—यातें योगसिद्धिकी इच्छावाले साधकपुरुषोंको अतिप्रयत्नसे यम और नियमोंका सर्वदाकाल अखंडित सेवन करना योग्य है इति ॥ ३१ ॥

अथासनम् ।

आसनानि बहून्याहुर्मुनयो जीवभेदतः ।
तेषां चतुष्कमादाय सारभूतमिहोच्यते ॥ ३२ ॥

अर्थ—नानाप्रकारके जीवोंकी बैठकके अनुसार पूर्वके मुनिलोकोंने बहुतप्रकारके आसन कथन किये हैं सो तिनमेंसे सारभूत चार आसन लेकरके यहां कथन करते हैं इति ॥ ३२ ॥

सिद्धासनं भवेदाद्यं द्वितीयं पद्मसंज्ञितम् ।
तृतीयं स्वस्तिकं प्रोक्तं वीराख्यं च चतुर्थकम् ॥ ३३ ॥





अर्थ—तिनमे पहला सिद्धासन दूसरा पद्मासन तीसरा स्वस्तिकासन और चौथा वीरासन कहिये है इति ॥ ३३ ॥

सिद्धं प्राणाधिरोहे स्यात् ध्यानकाले तु पद्मकम् ।
स्वस्तिकं जपवेलायां वीरं स्यात्सुखसंस्थितौ ॥३४॥

अर्थ—तिनमें सिद्धासन तो प्राणके चडाने कालमे करना चहिये और पद्मासन ध्यानकालमें करना चहिये तथा स्वस्तिकासन जप करने वकत करना चहिये और वीरासन साधारण सर्वदा सुखसे बैठनेके कालमें करना चहिये इति ॥ ३४ ॥

गुदावृषणयोर्मध्ये वामपार्ष्णि नियोजयेत् ।
दक्षपादाग्रभागं च वामजंघांतरे न्यसेत् ॥ ३५ ॥
हस्तयुग्मं न्यसेदंके सिद्धासनमितीरितम् ।
कुंडलीबोधकं शीघ्रं समाधेश्चोपकारकम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—गुदा और अंडकोशके मध्यभाग सीवनीमें



वामपादकी एडीको लगाय कर दहने पादका अग्र-भाग वामजंघाके अंदर स्थापनकरे तथा दोनों हाथ संपुटकरके गोदमे स्थापन करे यह सिद्धासन कुंड-लीके शीघ्र जगानेवाला और समाधि चडानेमे परम उपयोगी पूर्वके योगीलोकोंने कथन किया है इति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

वामोरूपरि दक्षांघ्रिं विन्यसेत्तस्य चोपरि ।
दक्षोरौ वामपादं च संस्थाप्याञ्जलिसंपुटम् ॥३७॥
स्वांके निधाय नासाग्रं पश्येन्निश्चलमानसः ।
पद्मासनं भवेदेतत् योगसिद्धिकरं परम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वामऊरुके ऊपर दहना पाद रखकर तिसके ऊपर दहने ऊरुपर वामपादको स्थापन करे और अपने अंकमें दोनों हाथ संपुटकरके धरकर नासाके अग्र-भागमें निश्चल मनसे दृष्टि जमावे सो यह शीघ्रहि योगकी सिद्धि करनेवाला पद्मासन कहिये है इति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

दक्षजंघांतरे वामं वामजंघांतरे तथा ।
विन्यसेच्चरणं दक्षं स्वस्तिकं चैतदुच्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—दहनी जंघाके बीचमें वामपादको और वामजंघाके बीचमें दहने पादको स्थापनकरे इसका नाम स्वस्तिकासन कहिये है इति ॥ ३९ ॥

दक्षिणोरुतले पादं वामं विन्यस्य दक्षिणम् ।
वामोरूपरि संयोज्यं वीरासनमितीरितम् ॥ ४० ॥

अर्थ—दहने ऊरुके नीचे वामपादको रखकरके दहना पाद वामऊरुके ऊपर स्थापन करे इसको योगीलोकोंने वीरासन कथन किया है इति ॥ ४० ॥

ज्ञेयं सर्वासनेष्वेतत् मुख्यं पीठचतुष्टयम् ।
साधकैरनिशं सेव्यं योगार्थिभिरतंद्रितैः ॥ ४१ ॥

अर्थ—सर्व आसनोंमें यह चार आसन मुख्य जानने चहिये योगसिद्धिके अभिलाषी साधकपुरुषोंको आलससे रहित होकरके निरंतर इनका सेवन करना योग्य है इति ॥ ४१ ॥

स्थिरं स्यादासनं यस्य स योगं कर्तुमर्हति।
शरीराचलताभावे नहि चित्तं स्थिरं भवेत् ॥४२॥

अर्थ–जिस पुरुषका आसन स्थिर होवेहै सोई योगका साधन करसकता है क्योंकि शरीरकी अचलताके विना मन कबी स्थिर नहि होसकता है इति ॥४२॥

आसनं त्वेकतानेन कृतं दुःखावहं भवेत् ।
शनैरभ्यासतस्तस्मात् वर्द्धयेदासने स्थितिम् ॥४३॥

अर्थ–आसनको एकदम अधिक देरतक करनेसे शरीरमें परिश्रम होता है यातें धीरेधीरे अभ्यास करके आसनको बढाना चहिये इति ॥ ४३ ॥

यदा प्रहरपर्यंतं स्थिरं स्यादेकमासनम् ।
तदा योग्यं विजानीयादासनं योगसाधने ॥४४॥

अर्थ–जिस कालमें एक प्रहरपर्यंत एकहि आसन स्थिर होजावे तब आसनको योगकी साधना करनेमें योग्य समझना चहिये इति ॥ ४४ ॥



३



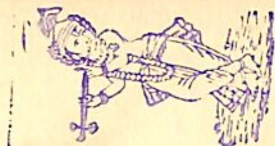
आसने स्थिरतां याते मनःस्थैर्यं भवेद्ध्रुवम् ।
प्राणस्यापि गतिर्नूनं शिथिला संप्रजायते ॥ ४५॥

अर्थ—अब आसनका फल कहतेहैं जब आसनकी स्थिरता होवेहै तो निश्चय करके मनभी स्थिर होजावेहै और प्राणवायुकी गतिभी निश्चयकरके मंद होजातीहै इति ॥ ४५ ॥

इन्द्रियाणां च चापल्यं शांतिमायाति निश्चितम् ।
ततो योगस्य सिद्धिः स्यात् तस्मादासनमभ्यसेत् ॥

अर्थ—तथा आसनकी स्थिरता होनेसे इन्द्रियोंकी जो स्वाभाविक चंचलता है सोभी शांत होजातीहै और इसप्रकारसे मन प्राण इन्द्रियोंकी स्थिरता होनेसे शीघ्रहि योगकी सिद्धि होवेहै यातें योगसाधनाकी इच्छावाले साधकपुरुषोंको प्रथम आसनका अवश्य अभ्यास करना योग्यहै इति ॥ ४६ ॥

भ्रमणं तीर्थयात्रासु नैव कार्यं हि योगिना ।
स्थित्वा स्थाने सदैकस्मिन् योगारंभं समाचरेत् ४७



अर्थ—योगाभ्यासी पुरुषको तीर्थोंकी यात्रामें भ्रमण नहि करना चहिये किंतु योगसिद्धिपर्यंत सर्वदाकाल एकस्थानमेहि निवासकरके योगाभ्यासका प्रारंभ करना योग्य है इति ॥ ४७ ॥

अथ प्राणायामः

प्राणायाममथेदानीं कथयामि समासतः ।
यस्य ज्ञानाद्भवेद्योगी योगसिद्धेस्तु भाजनम् ॥ ४८

अर्थ—अब प्राणायामकी विधि संक्षेपसे कथन करतेहैं जिसके जाननेसे योगी पुरुष योगसिद्धियोंका पात्र होवेहै इति ॥ ४८ ॥

प्राणायामस्य भेदास्तु कथिता मुनिपुंगवैः ।
बहवो योगतंत्रेषु साधकानां हिताय वै ॥ ४९ ॥

अर्थ—पूर्वके मुनिवरोंने योगके ग्रंथोंमें प्राणायामके बहुत प्रकारके भेद साधक लोकोंके हितकेलिये कथन कियेहैं इति ॥ ४९ ॥

द्वावेव तेषु सर्वेषु प्राणायामौ वरौ मतौ ।
चंद्रभेदनसंज्ञश्च भस्त्रिकासंज्ञकस्तथा ॥ ५० ॥

अर्थ–तिन प्राणायामके सर्व भेदोंमेसे चंद्रभेदन और भस्त्रिका यह दो प्राणायामहि योगीलोकोंने श्रेष्ठ मुख्य मानेहैं इति ॥ ५० ॥

संध्यादिकर्मवेलायां चंद्रभेदनमिष्यते ।
भस्त्रिका योगकाले स्यादिति ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ ५१

अर्थ–तिनमें संध्यादिककर्मके करने कालमे तो चंद्रभेदन करना चहिये और योगाभ्यास करनेमे भस्त्रिका प्राणायाम करना चहिये ऐसा बुद्धिमान् पुरुषोंको जानना योग्यहै इति ॥ ५१ ॥

वामनासिकया प्राणं पूरयेच्चंद्रमार्गतः ।
कुंभयित्वोदरे सम्यक् सूर्यद्वारेण रेचयेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ–अब प्रथम चंद्रभेदनकी रीति कथन करते हैं पहले चंद्रमाके मार्ग वामनासापुटसे प्राणका पूरक करे और तिस पूरक कियेहुये प्राणको पेटमे भलीप्रकारसे

अपनी शक्तिअनुसार रोककरके पीछे सूर्यद्वार दहने नासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५२ ॥

पुनः पिंगलया पीत्वा कुंभयित्वा यथा बलम् ।
शनैर्विरेचयेत्प्राणं वामरंध्रेण युक्तितः ॥ ५३ ॥

अर्थ–इस प्रकार एक प्राणायाम करके फिर दूसरी वार दहनी नासापुट पिंगलासे प्राणको पूरक करे और यथाशक्ति पेटमे कुंभक करके पीछे युक्तिसे धीरेधीरे वामनासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५३ ॥

प्रणवं वाथ गायत्रीं मनसा कुंभकावधि ।
जपेदेकांतगः सोयं चंद्रभेदनमुच्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ–और प्राणके कुंभकपर्यंत मनसे ओंकारका अथवा गायत्रीमंत्रका एकांतमे बैठकरके जप करे इसको चंद्रभेदन प्राणायाम कहते हैं इति ॥ ५४ ॥

वामनासापुटात्प्राणं रेचयेत्तेन वै पिबेत् ।
पीतं विरेचयेत्तूर्णं दक्षनासापुटेन तम् ॥ ५५ ॥



ततस्तेनैव पीत्वाथ वामरंध्रेण रेचयेत् ।
वामेनैव ततः पीत्वा दक्षरंध्रेण रेचयेत् ॥ ५६ ॥

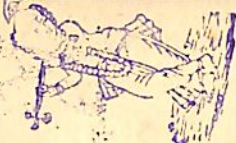
अर्थ–अब भस्त्रिका प्राणायामकी रीति निरूपण करतेहैं पहले वामनासापुटसे प्राणको रेचन करके उसीसे शीघ्रहि पीजावे और फिर तिसको शीघ्रहि दहने नासापुटसे रेचन करदेवे तथा फिर उसी पुटसे पीकरके वामपुटसे रेचन करदेवे और फिर वामपुटसे पीकरके दहनेपुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

एवं पुनःपुनः कुर्यात् रेचपूरौ द्रुतं द्रुतम् ।
भस्त्रावल्लोहकारस्य क्षणमात्रं विचक्षणः ॥ ५७ ॥

अर्थ–इसप्रकार जैसे लुहारकी धोकनी चलतीहै तैसेहि चतुरपुरुष शीघ्रं शीघ्र दोनो नासापुटोंसे वारी वारी थोडीदेर रेचक पूरक करे इति ॥ ५७ ॥

ततो विरेचयेद्वायुं निखिलं वामरंध्रतः ।
किंचित्कालं बही रुद्ध्वा वामेनैव पिबेत्ततः ॥५८॥

अर्थ–पीछे संपूर्ण पेटके प्राणवायुको वामना-



सापुटसे रेचन करदेवे और किंचित् काल तिसको बाहिर रोककर फिर उसी वामनासापुटसे हि पूरक करलेवे इति ॥ ५८ ॥

कुंभयेदुदरे पीतं प्राणं धृत्या यथाबलम् ।
शनैर्विरेचयेत्पश्चाद् दक्षरंध्रेण बुद्धिमान् ॥ ५९ ॥

अर्थ–तिस पूरक कियेहुये प्राणको धीरजसे अपनी शक्तिअनुसार कुंभक करे और पीछे धीरे धीरे दहनें नासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५९ ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा दक्षरंध्रेण रेचयेत् ।
किंचित्कालं बही रुद्धा ततस्तेनैव पूरयेत् ॥६०॥
कुंभयित्वा यथाशक्ति प्राणं वामेन रेचयेत् ।
वामदक्षक्रमेणैवं प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ६१ ॥

अर्थ–इसप्रकार एक प्राणायाम करके फिर दूसरी बार पूर्वकी न्यांई थोडी देर भस्त्रिका करके नासाके दहने रंध्रसे प्राणको रेचन करे और किंचित्काल तिसको बाहिर रोककर फिर दहने रंध्रसे हि पूरक करलेवे

और यथाशक्ति पेटमे कुंभक करके फिर वामनासापु-टसे शनैः शनैः रेचन करदेवे इसप्रकार उक्तरीतिसे वामे और दहने रंध्रसे क्रमकरके प्राणायामका अ-भ्यास करे अर्थात् पहला प्राणायाम वामनासापुटसे करे और दूसरा दहनेसे फिर तीसरा वामेसे करे और चौथा दहनेसे करे इसप्रकार क्रमसे करे इति ॥ ६०॥६१ ॥

भस्त्रिकाकुंभकोयं स्यात् शीघ्रं प्राणजयप्रदः ।
कुंडली वक्रभावघ्नस्त्रिदोषशमनः परः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस प्राणायामको भस्त्रिकाकुंभक कहते हैं इसके अभ्यास करनेसे शीघ्रहि प्राणका जय होवेहै और कुंडली शक्तिका चक्र सरल होवेहै तथा कफ पित्त वात तीनों दोषोंकी शांति होवेहै इति ॥ ६२ ॥

अस्यैवांतर्भवंत्यन्ये प्राणायामा यतोऽखिलाः ।
तस्मादस्यैव कर्तव्यः सदाभ्यासः सुसाधकैः ॥ ६३

अर्थ—और जो दूसरे शीतकारी शीतली आदिक प्राणायाम हैं सो सर्वहि इस भस्त्रिकाके अंतर्भूत हो-

जातेहैं यातें श्रेष्ठ साधकपुरुषोंको केवल इसी भस्त्रिका प्राणायामकाहि सर्वकाल अभ्यास करना योग्यहै इति ॥ ६३ ॥

कुंभकस्य तु मध्येपि पिबेद्वायुं विचक्षणः ।
एकवारं द्विवारं वा कुंभकस्य विवृद्धये ॥ ६४ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषको चहिये कि कुंभकके बीचमेंभी एकवार अथवा दोवार नासिकाद्वारा बाहिरसे प्राणवायुको पीजावे तो कुंभककी विशेष वृद्धि होवेहै इति ॥ ६४ ॥



नाभौ संचिंतयेद्योगी सूर्यमंडलमुज्ज्वलम् ।
तेन प्राणनिरोधः स्यात् चिरकालं न संशयः ॥ ६५ ॥

अर्थ—तथा योगीको चहिये कि कुंभककालमें अपने नाभिचक्रमें प्रकाशवान् सूर्यमंडलका ध्यान करे तो तिससे मनकी वृत्ति अंतर्मुख होनेसे प्राणका चिरकालपर्यंत निरोध होवे है इति ॥ ६५ ॥



सायं प्रातश्च कुर्वीत प्राणायामं तु साधकः।
घटिकात्रितयं नित्यं पथ्यपूर्वकमेकधीः ॥ ६६ ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे प्रातः तथा सायंकाल तीन घटिकापर्यंत नित्यहि पथ्यपूर्वक साधकपुरुषको एकाग्रचित्त होकर प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इति ॥ ६६ ॥

रसमम्लं तथा क्षारं विदाहि कटुकं तथा।
त्यक्त्वा भुंजीत गोधूमं मुद्गं वा तंडुलं तथा॥६७॥

अर्थ—खाटा रस लवणादि विशेष क्षार मरिचादि दाहकारक और निंबादि कटु पदार्थोंका परित्याग करके गेहुं मूंग तथा चावलोंका भोजन करना चहिये इति॥

घृतं नवीनं सेवेत निशायां च पयः पिबेत्।
सैंधवं चाल्पमश्नीयात् तथैव मधुरं रसम् ॥ ६८॥

अर्थ—ताजा घृतका सेवन करे और रात्रीको दूधका पान करे तथा सैंधव निमक थोडा खावे और मीठा रसभी थोडा खाना चहिये इति ॥ ६८ ॥

एतद्धि योगिनां पथ्यं नापथ्यं तु कदाचन ।
पथ्याभावे भवेद्योगी नानारोगसमन्वितः ॥६९॥

अर्थ–येहि पदार्थ योगीलोकोंके लिये पथ्य हैं योगीको अपथ्य कबी सेवन नहि करना चहिये क्योंकि पथ्यके नहि पालन करनेसे योगीके शरीरमें नानाप्रकारके ज्वरादि रोगोंकी उत्पत्ति होवे है इति ॥ ६९ ॥

इत्थं मासद्वयं कुर्यात् त्रिमासं वा गतालसः ।
यावत्पंचशतं मात्राः कुंभकस्य भवंति हि ॥ ७० ॥

अर्थ–इस प्रकार उक्तरीतिसे दो अथवा तीन मासपर्यंत प्राणायामका अभ्यास करना चहिये जबतक कुंभककी पांचसौ मात्रा अनायाससे होजावें इति ॥७०॥

एकादिगणनां कुर्यात् न द्रुतं न विलंबितम् ।
मनसा कुंभकाले तु मात्रास्ताः परिकीर्तिताः॥७१॥

अर्थ–कुंभककालमें एक दो तीन चार पांच इसप्रकारसे न तो शीघ्र और न विलंबसे जो मनमे गिनती करनी है तिसको मात्रा कहते हैं इति ॥ ७१ ॥

मात्राणां तु भवेत्संख्या यदा पंचशताधिका ।
तदा योग्यं विजानीयात् कुंभकं शक्तिबोधने ॥७२॥

अर्थ—जिसकालमें मात्रायोंकी पांचसौसे अधिक संख्या होजावे तो तिसकालमें कुंभकको कुंडलिनीके जगानेमें योग्य समझना चहिये इति ॥ ७२ ॥

गतिं विज्ञाय नाडीनां कुंडलीस्थानमेव च।
सम्यग्योगी ततो युक्त्या शक्तिबोधनमाचरेत् ॥७३

अर्थ—पहले नाडियोंकी गति तथा कुंडलीका स्थान भलीप्रकारसे जानकरके पश्चात् युक्तिसे योगी कुंडलीको जाग्रत करे इति ॥ ७३ ॥

अस्ति नाभेरधः कंदो देहमध्यगतः सदा ।
कुक्कुटांडसमाकारः सर्वनाडीसमाश्रयः ॥ ७४ ॥

अर्थ—नाभिके नीचे शरीरके मध्यभागमे कंदका स्थान है और कुक्कुटके अंडेके समान तिसका आकार है तथा शरीरकी सर्व नाडियोंका सो आश्रयभूत है इति ॥ ७४ ॥





तस्मादूर्ध्वमधस्तिर्यङ् निर्गताः सर्वनाडिकाः ।
देहं व्याप्यावतिष्ठंते भूमंडलमिवापगाः ॥ ७५ ॥

अर्थ–तिस कंदसे ऊपर नीचे और तिरछियां सर्वनाडियां निकली हैं जैसे पृथवीमंडलमे नदियां व्यापक होय रही हैं तैसेहि सो नाडियां नीचे ऊपर तिरछी सर्व शरीरमें व्यापक होय रही हैं इति ॥ ७५ ॥

तासु सर्वासु वै तिस्रः प्रधाना नाडिका मताः ।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्नेति प्रकीर्तिताः ॥७६॥

अर्थ–तिन सर्वनाडियोंमें इडा पिंगला और सुषुम्ना यह तीन नाडियां योगीलोकोंने मुख्य मानीहैं इति ॥ ७६ ॥

इडा वामे स्थिता नित्यं पिंगला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्ना मध्यगा ज्ञेया योगसिद्धिप्रदायिनी ॥७७॥

अर्थ–तिनमे इडा नामकी नाडी वामभागमे है और पिंगला दक्षिणभागमे है तथा सुषुम्ना दोनोंके मध्यमें

जाननी चहिये सो सुषुम्नाहि योगकी सिद्धि देनेवाली है इति ॥ ७७ ॥

कंदमध्याद्विनिर्गत्य मेरुदंडेन संगता ।
सुषुम्ना पृष्ठमार्गेण ब्रह्मरंध्रमुपागता ॥ ७८ ॥

अर्थ–सो सुषुम्ना पूर्वोक्त कंदसे निकलकर मेरुदंडसे मिलीहुई शरीरके पृष्ठभागसे ब्रह्मरंध्रमें गई है इति ॥ ७८ ॥

ततश्चैषा परावृत्या भ्रूकंठहृदयादिषु ।
क्रमाच्चक्रेषु संगत्य नाभिमूलमुपाश्रिता ॥ ७९ ॥

अर्थ–और सो ब्रह्मरंध्रसे होकर शरीरके अग्रभागसे नीचेको भ्रूमध्य कंठ हृदयादि चक्रोंमें क्रमसे होती हुई नाभिके नीचे कंदमें फिर जाय मिली है इति ॥ ७९ ॥

कंदोपरिगता नित्यं शक्तिः कुंडलिनी परा ।
सार्द्धत्रिवलयाकारा संसुप्तभुजगोपमा ॥ ८० ॥

अर्थ–कंदके ऊपरके भागमें कुंडालिनी शक्तिका



स्थान है और साडेतीन वलनके आकारसे सोये हुये सर्पके समान कुंडलाकार है इति ॥ ८० ॥

सूक्ष्मा तडित्प्रतीकाशा जीवशक्तिसमाश्रया ।
मूलप्रकृतिरूपा सा सर्वप्राणिषु संगता ॥ ८१ ॥

अर्थ–सो कुंडलिनी शक्ति अति सूक्ष्म विजलीके समान प्रकाशरूप और जीवात्माका आधारभूत है तथा मूलप्रकृति स्वरूप है और सर्व प्राणधारी जीवोंके शरीरोंमें रहतीहै इति ॥ ८१ ॥

तस्याः प्राणस्तथापानो वहत्यूर्ध्वमधस्तथा ।
मध्ये सा बीजभूता तु संस्थिता परमेश्वरी ॥ ८२॥

अर्थ–तिस कुंडलिनीसे प्राण ऊपरको वहता है और अपान नीचेको वहताहै और मध्यमें सो परमेश्वरकी शक्तिरूप कुंडलिनी बीजरूपसे स्थित होय रही है इति ॥ ८२ ॥

येन मार्गेण गच्छंति प्राणा मूर्द्धनि योगिनः ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं सुप्ता सा नागकन्यका ॥८३॥

अर्थ—जिस मार्गसे योगीके प्राण ऊपर मस्तकमें जाते हैं तिसके द्वारको अपने मुखसे रोककरके सो कुंडलिनी सोय रही है इति ॥ ८३ ॥

यावत्सा निद्रिता देहे तावद्योगो न सिद्ध्यति ।
अतस्तद्बोधने युक्तिः सम्यगत्र निरूप्यते ॥ ८४ ॥

अर्थ—जबतक सो कुंडलिनी शरीरमें सोय रही है तबतक योगसिद्ध नहि होसकता है इसलिये उसके जगानेके लिये सम्यक् प्रकारसे यहां युक्ति निरूपण करते हैं इति ॥ ८४ ॥

प्रथमो मूलबंधः स्यादुड्डियानो द्वितीयकः ।
जालंधरस्तृतीयश्च शक्तिबोधनहेतवः ॥ ८५ ॥

अर्थ—प्रथम मूलबंध दूसरा उड्डियानबंध और तीसरा जालंधरबंध यह तीन प्रकारके बंध कुंडलिनीके जगानेमें हेतुभूत हैं इति ॥ ८५ ॥

सिद्धासने स्थितोऽपानं बलादूर्ध्वं विकर्षयेत् ।
आधाराकुंचनेनायं मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ८६ ॥



अर्थ—सिद्धासनपर बैठकरके आधारचक्रको आकुंचन करके जोरसे अपान वायुको ऊपरकी तरफ खेंचे इसको मूलबंध कहतेहैं इति ॥ ८६ ॥

नाभेः पश्चिमतानंहि बलात्कुर्यात्पुनः पुनः ।
उड्डियानो भवेद्बंधः प्राणोड्डयनकारकः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पेटकी नाभिको वारंवार पीठकी तरफको जोरसे ताननेसे उड्डियानबंध होता है इससे प्राणोंका मेरुदंडद्वारा ऊपरको गमन होता है इति ॥ ८७ ॥

चिबुकं कंठकूपस्य न्यसेदुपरि भागतः ।
बंधो जालंधरः प्रोक्तः शिराजालनिरोधकः॥८८॥

अर्थ—कंठकूपके ऊपरके भागमें मुखकी ठोडीको जमानेसे जालंधरबंध होताहै इससे नाडियोंकी ऊर्ध्वगतिका निरोध होवेहै इति ॥ ८८ ॥

बंधत्रयमिदं योगे योगिनामुपकारकम् ।
कुंडलीबोधकं शीघ्रं ब्रह्मरंध्रगतिप्रदम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—यह तीनप्रकारके बंध योगाभ्यासमें योगि-



योंके बहुत उपकारक हैं और कुंडलीको शीघ्रहि बोधनकरके प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें पहुंचाते हैं इति ॥ ८९ ॥

ज्ञात्वा बंधत्रयं योगी कुंडलीं बोधयेत्ततः ।
यस्याः प्रभेदाद्भिद्यंते चक्राणि ग्रंथयोपि च ॥९०॥

अर्थ—इन बंधोंको भलीप्रकारसे जानकरके पश्चात् योगी कुंडलिनीको जाग्रतकरे तिसके जगानेसे षट्चक्रोंका तथा मेरुदंडकी सर्वग्रंथियोंका भेदन होवे है इति ॥ ९० ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेत्पवनं सुधीः ।
बहिरेवाथ तं रुद्ध्वा कुर्यादुड्डियानबंधनम् ॥ ९१ ॥
बलादपानमाकृष्य ततो वायुं प्रपूरयेत् ।
कुंभयित्वा यथाशक्ति शनैरेव विरेचयेत् ॥ ९२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायुको रेचन करे और तिस रेचन कियेहूये प्राणको बाहिरहि रोककरके पीछे उड्डियानबंध करे और उड्डियानकरते वकत जोरसे अपानवायुको ऊपरकी तरफको

आकर्षण करे पीछे शीघ्रहि बाहिरवाले प्राणका पूरक करलेवे और शक्तिअनुसार कुंभक करके फिर रेचन करदेवे इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥



सिद्धासने समासीनः सायंप्रातश्च साधकः ।
वामदक्षक्रमेणैवं मुहूर्तद्वयमभ्यसेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ–इसप्रकार सिद्धासनपर बैठकर सायंकाल तथा प्रातःकाल क्रमसे वामनासापुट और दक्षिणनासापुटसे चार घटिकापर्यंत साधक पुरुषको नित्य अभ्यास करना चहिये इति ॥ ९३ ॥

उड्डियाने कृते बंधे मूलबंधोपि जायते ।
तेनापानो व्रजेदूर्ध्वं प्राणस्य सदनं प्रति ॥ ९४ ॥

अर्थ–उड्डियानबंधके करनेसे मूलबंधभी स्वतःहि होजावे है क्योंकि जैसे मूलबंधसे अपानवायुका ऊपरको आकर्षण होवे है तैसेहि उड्डियानबंधमे नाभिको ऊपरकी तरफ ताननेसे अपानका आकर्षण होवेहै सो



इससे अपानवायु ऊपरको प्राणके घरमें जाता है इति ॥ ९४ ॥

ततः कुंभकयोगेन प्राणोऽपानगृहं व्रजेत् ।
द्वयोः संघर्षणादग्निर्वर्धते देहमध्यगः ॥ ९५ ॥

अर्थ—और फिर प्राणका पूरक करके कुंभक करनेसे प्राणवायु नीचेको अपानके घरमे जाता है इसप्रकार प्राण और अपान दोनोंके घर्षणसे शरीरके मध्यभागमे रहनेहारी अग्निकी वृद्धि होवे है इति ॥९५

ततो वन्हिप्रतापेन प्राणसंघर्षणेन च ।
दंडाहताभुजंगीव कुंडली संप्रबुद्ध्यते ॥ ९६ ॥

अर्थ—और तिस अग्निके तापसे तथा प्राणोंके संघर्षणसे जैसे दंड लगानेसे सर्पणी कुंडल छोडकर सीधी होजावे है तैसेहि कुंडलिनी शक्ति निद्राको छोडकर सीधी होजावे है इति ॥ ९६ ॥

प्रबुद्धा सा जहात्याशु ब्रह्मरंध्रमुखं ध्रुवम् ।
सुषुम्नायां तदा प्राणो विशेदूर्ध्वं न संशयः ॥ ९७ ॥

अर्थ–जाग्रतभई कुंडली ब्रह्मरंध्रके मार्गके द्वारको छोड देती है और तिसकालमें सुषुम्नामें ऊपरको प्राणका प्रवेश निश्चयकरके होवे है इति ॥ ९७ ॥

ततस्तु हृदयांभोजे प्राणस्य गमनं भवेत् ।
वायोः संस्पर्शयोगेन ज्ञातव्यं साधकोत्तमैः ॥९८॥

अर्थ–सुषुम्नामे प्रवेश होनेके पीछे प्राणका प्रथम हृदयकमलमे गमन होवे है सो तिसकालमे हृदयमें प्राणवायुके अंदरसे स्पर्श होनेसे साधकपुरुषोंको जानलेना चहिये कि अब कुंडलिनी जाग्रत होकर हृदयतक आयगई है इति ॥ ९८ ॥



हृदयात्कंठमायाति कंठाद्भ्रूमध्यमेव च ।
भ्रूमध्याद्ब्रह्मरंध्रं च व्रजेत्प्राणः शनैःशनैः ॥ ९९ ॥

अर्थ–तिसके पीछे नित्य प्रति अभ्यास करते रहनेसे धीरे धीरे हृदयसे कंठमें प्राणोंका आगमन होवे है और फिर कंठसे भ्रूमध्यमे आगमन होवे है और



फिर भ्रूमध्यसे ब्रह्मरंध्रमें प्राणोंका प्रवेश होवे है इति ॥ ९९ ॥

यथायथैवापानस्य बलादाकर्षणं भवेत् ।
तथातथा भवेदूर्ध्वं शीघ्रं प्राणस्य रोहणम् ॥१००॥

अर्थ—पूर्वोक्त उड्डियानबंधसे जैसे जैसे अपानका जोरसे ऊपरको आकर्षण किया जावे है तैसे तैसेहि शीघ्र प्राणका ऊपरको आरोहण होवे है इति ॥१००॥

यदा चक्राणि संभित्त्वा प्राणो मूर्धानमाव्रजेत् ।
तदा तत्रैव ध्यानेन स्थिरं कुर्याद्विचक्षणः ॥ १०१

अर्थ—जिसकालमे आधारादि षट् चक्रोंको उल्लंघनकरके प्राणवायु शिरमे पहुंच जावे तो तिसकालमे चतुरपुरुष तिसको तहां ब्रह्मरंध्रमे चंद्रमंडलका ध्यानकरके स्थिर करे इति ॥ १०१ ॥

पूर्वमार्गमिमं प्राहुः सुषुम्नाया मुनीश्वराः ।
येन याता विमुच्यंते जन्मसंसारबंधनात् ॥१०२॥

अर्थ—इसप्रकार षट्चक्रोंद्वारा प्राणको ब्रह्मरंध्र

लेजानेको योगविद्याके जाननेवाले मुनीश्वर लोक सुषुम्नाका पूर्वमार्ग कहते हैं तथा कोई बंकनालमार्गभी इसको कहते हैं इसमार्गसे अंतकालमें प्राणोंको छोडनेसे योगीलोक जन्ममरणरूप संसारबंधनसें मुक्त होजाते हैं इति ॥ १०२ ॥

अथ पश्चिममार्गस्य भेदनं संप्रचक्ष्यते ।
मेरुदंडं प्रविश्याशु येन प्राणः प्रलीयते ॥ १०३

अर्थ–अब सुषुम्नाका दूसरा जो पश्चिममार्ग है तिसके खोलनेकी विधि निरूपण करते हैं जिससे मेरुदंडमें प्राणप्रवेश होकरके ब्रह्मरंध्रमें जायकर लीन होते हैं इति ॥ १०३ ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेदनिलं शनैः ।
रुद्ध्वा तं बहिरेवाशु कुर्यादुड्डियानबंधनम् ॥१०४॥

अर्थ–पूर्वोक्तरीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायुको एकनासापुटसे रेचन कर देवे और तिसको बाहिरहि रोककर जलदीसे उड्डियानबंध करे इति ॥१०४



नाभेः पश्चिमतानं तु तथा कुर्यात्प्रयत्नतः ।
यथा स्यान्मेरुदंडेन संलग्नं नाभिमंडलम् ॥१०५॥

अर्थ—उड्डियानबंध करतेवकत नाभिको इसतरे जोरसे पीछेको तानकर हटाना चहिये कि जिसतरे नाभिस्थान पीठके मेरुदंडसे लगजावे इति ॥ १०५ ॥

कृत्वाथ पूरकं शीघ्रं कुंभकं कारयेद्बुधः ।
मनसा चिंतयेच्चापि पृष्ठे प्राणस्य रोहणम् ॥१०६॥

अर्थ—फिर जलदी बाहिरवाले प्राणको पूरककरके कुंभक करे और तिसकालमें मनसेभी प्राणोंका मेरुदंडमे चडना चिंतन करे इति ॥ १०६ ॥

दिनैः कतिपयैरेवमभ्यासं कुर्वतो ध्रुवम् ।
मेरुदंडे विशेत्प्राणो वंशरंध्रे यथानिलः ॥१०७॥

अर्थ—कुछ दिन इसप्रकारसे अभ्यास करनेसे योगीके प्राण मेरुदंडमे प्रवेश करजाते हैं जैसे कि बांसके छिद्रमें वायु प्रवेश करे है इति ॥ १०७ ॥

दिनानुदिनमभ्यासे क्रियमाणे यथाक्रमम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं व्रजेत्प्राणो भित्त्वा ग्रंथिसमुच्चयम् ॥१०८

अर्थ–फिर दिनादिन क्रमपूर्वक अभ्यास करनेसे मेरुदंडमे मार्गकी ग्रंथियोंके समूहको साफ करता हूया प्राण ऊपरऊपरको गमन करता है इति ॥ १०८ ॥

अंगे पिपीलिकारोहे यथा स्पर्शः प्रतीयते ।
मेरुदंडे तथा वायोः स्पर्शः स्यादूर्ध्वरोहणे ॥१०९॥

अर्थ–जिसप्रकार शरीरपर कीडीके चडनेसे स्पर्श मालूम पडता है तैसेहि मेरु दंडमे प्राणके ऊपर चडनेमें स्पर्श प्रतीत होवेहै इति ॥ १०९ ॥



ब्रह्मरंध्रं व्रजेत्प्राणो यदा पश्चिममार्गतः ।
पूरयेत्तत्र तं नित्यं संतताभ्यासयोगतः ॥ ११० ॥

अर्थ–जिसकालमे मेरुदंडके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमे पहुंच जावे तो फिर निरंतर अभ्यास करके तिसको तहां पूरण करे इति ॥ ११० ॥

तदा भस्त्रा परित्यज्य कुर्यात्कुंभं तु केवलम् ।
यथा स्यात्प्राणसंचारो विशेषात्पश्चिमे पथि ॥१११॥

अर्थ—तिसकालमे भस्त्राका परित्याग करके केवल कुंभकहि करना चहिये जिससे विशेषकरके प्राणोंका पश्चिममार्गमे प्रचार होवे इति ॥ १११ ॥

वर्द्धमाने ततोभ्यासे प्राणस्त्यक्त्वा गमागमौ ।
ब्रह्मरंध्रे लयं याति मनश्चानुविलीयते ॥ ११२ ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे अभ्यासके बडनेसे और अत्यंत अल्पाहार करनेसे नासिकाद्वारसे आनाजाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्रमे जायकर स्थिर होजाते हैं तथा प्राणोंके साथ मनभी लीन होजावे है इति ॥ ११२ ॥

प्राणे मूर्धनि संप्राप्ते नादध्वनिरनुत्तमः ।
श्रूयते योगिनो वक्रे संस्रवेदमृतं तथा ॥ ११३ ॥

अर्थ—जिसकालमे प्राणवायु मस्तकमे पहुंचता है तो तिसकालमे योगीको सुंदर अनाहतनादकी ध्वनि



सुन पडती है और मुखमे तालुसे अमृत टपकता है इति ॥ ११३ ॥

आनंदानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान् ।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते ॥११४

अर्थ–तथा तिसकालमे योगीको परम आनंदका अनुभव होवेहै तिस आनंदको सो योगी आपहि जानेहै मैं तिस आनंदका कथन नहि करसकता हुं इति ॥ ११४ ॥

नैव तं विषयासक्ता विदुर्नो शास्त्रचिंतकाः ।
योगजं परमानंदं योगिनोऽनुभवंति यम् ॥ ११५ ॥

अर्थ–तिस आनंदको विषयासक्त पुरुष जान नहि सकते हैं तथा केवल शास्त्रोंके पठनपाठन करनेवाले पंडित लोकभी नहि जान सकते हैं जिस आनंदका समाधिकालमें योगीलोक अनुभव करते हैं इति ॥११५

मुहूर्तार्धं मुहूर्तं वा स्थित्वा मूर्धनि योगवित् ।
ततोवतारयेत्प्राणं सुषुम्नापूर्वमार्गतः ॥ ११६ ॥

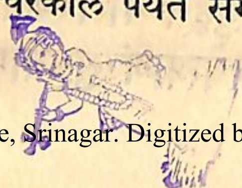
अर्थ—उक्तरीतिसे प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमे चडायकरके तहां एक घटिका अथवा दो घटिका ठहरायकरके फिर योगविद्याके जाननेवाला योगी सुषुम्नाके पूर्व-मार्गसे प्राणोंको धीरे धीरे नीचे उतारलेवे इति ॥११६

स्थापयेच्च यथास्थानं स्वदेहे तं विचक्षणः ।
शनैरेव समुत्थाय विश्रांतोऽथ सुखं चरेत् ॥११७॥

अर्थ—और फिर चतुरपुरुष अपने शरीरमें क्रमसे सर्व अंगोंमे प्राणोंको स्थापन करे पीछे धीरेसे आस-नसे उठकर थोडी देर आरामकरके पश्चात् मरजीमू-जब चले फिरे इति ॥ ११७ ॥

कुंभकाभ्यासतो नित्यं ध्यानयोगाच्च मूर्धनि ।
स्थितिं संवर्धयेद्योगी समाधिः स्याद्यथा चिरम् ॥

अर्थ—केवल कुंभकके विशेष अभ्याससे और ब्रह्म-रंध्रमे ध्यानके बलसे योगी पुरुष मस्तकमे प्राणोंकी स्थितिको बडावे जिससे चिरकाल पर्यंत समाधि हो-सके इति ॥ ११८ ॥



प्राणस्य त्वखिलं कर्म मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
मनसो विकलीभावे प्राणो न स्थिरतां व्रजेत् ॥ ११९

अर्थ–पूर्वोक्त प्राणके चडाने उतारनेकी सर्व क्रिया मनकी एकाग्रताके साथ करनी चहिये क्योंकि मनके चंचल होनेसे प्राणकी स्थिरता नहि होसके है इति ॥ ११९ ॥



अथ प्रत्याहारः

प्रत्याहारमथो वक्ष्ये यथोक्तं मुनिपुंगवैः ।
साधनाद्यस्य योगीन्द्रो निर्विघ्नं सिद्धिमृच्छति ॥

अर्थ–अब योगका पांचवा अंग जो प्रत्याहार है तिसको पूर्वके मुनिलोकोंके कथनके अनुसार वर्णन करते हैं जिस प्रत्याहारके साधन करनेसें योगीपुरुष निर्विघ्न योगसिद्धिको प्राप्त होवेहै इति ॥ १२० ॥

इन्द्रियाणि चरंतीह विषयेषु स्वभावतः ।
यत्नादाहरणं तेषां प्रत्याहारो निगद्यते ॥ १२१ ॥

अर्थ–श्रोत्रादिक इन्द्रियां शब्दादिक विषयोंमे

स्वभावसेहि विचरती हैं तिनको यत्नसे जो विषयोंकी तरफसे निवृत्त करना है सो प्रत्याहार कहिये है इति ॥ १२१ ॥

इन्द्रियाण्यवशीकृत्य यस्तु योगं समभ्यसेत् ।
भिन्नभांडांबुवत्तस्य योगः क्षरति संततम् ॥ १२२

अर्थ—इन्द्रियोंको नहि जीतकरके जो पुरुष योगका अभ्यास करताहै तिसका फूटेहूये घडेसे जलकी न्यांई योग निरंतर क्षरता जावेहै इति ॥ १२२ ॥

विषयेषु समासक्तो न योगं कर्तुमर्हति ।
तस्माद्विषयसंत्यागो योगिनां परमो हितः ॥१२३॥

अर्थ—विषयोंमें फसाहूया पुरुष योगाभ्यासको ठीक नहि करसकता है यातें योगी लोकोंको विषयोंका परित्याग करना परम हितकारक है इति ॥ १२३ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गंधस्तथैव च ।
पंचैते विषया लोके जीवबंधनहेतवः ॥ १२४ ॥

अर्थ—शब्द स्पर्श रूप रस और गंध जगत्में

यह पांच प्रकारके विषय हैं सो यह पांचोहि इस जीवके बंधनके कारण हैं इति ॥ १२४ ॥



विषयेष्वपि सर्वेषु स्त्रीसंज्ञो विषमो मतः ।
योगिनां परमो वैरी सिद्धिहा चित्तदूषकः ॥ १२५

अर्थ–तिन पांच विषयोंमेभी स्त्रीनामक जो विषय है सो ऋषिलोकोंने बडा दुर्जय मानाहै क्योंकि सो योगियोंका परम वैरी और योगसिद्धिके नाश करनेवाला तथा चित्तके बिगाडनेवाला है इति ॥ १२५ ॥

यस्याः समस्तमेवेदं सखुरासुरमानवम् ।
पदाक्रांतं जगज्जेतुं कस्तां शक्नोति योषितम् ॥१२६

अर्थ–देवता दानव मनुष्यादि सर्वजगत् जिसके वशीभूत होय रहाहै तिस स्त्री-को सर्वथा कौन पुरुष जीत सकता है इति ॥ १२६ ॥

तस्माद्विशेषतः स्त्रीणां संगं योगी विवर्जयेत् ।
सिद्धयोगोपि संगेन पतेदत्र न संशयः ॥ १२७ ॥

अर्थ–यातें योगाभ्यासी पुरुषको स्त्रियोंका संग

विशेषकरके वर्जन करना चहिये क्योंकि योगसिद्धिको प्राप्त भयाभी पुरुष कुसंगसे भ्रष्ट होजावेहै तो दूसरे साधक पुरुषकी तो क्या वार्ता कहनी है और जो योगी गृहस्थ होवे तोभी अभ्यासकालमे तो अवश्य स्त्रीका वर्जन करना चहिये इति ॥ १२७ ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्य योगिनो विघ्नकारकाः ।
स्वयमेवोपतिष्ठंति विषया देवनोदिताः ॥ १२८ ॥

अर्थ—किंच योगाभ्यासमें प्रवृत्तभये योगीको देवतोंकरके प्रेरित किये हूये विघ्न करनेवाले विषय पदार्थ अपने आप स्वतःहि आयकर प्राप्त होते हैं इति ॥१२८

मानं पूजा च विख्यातिर्द्रव्यलाभश्च जायते ।
योषितां संगमश्चैव वांछितानां च संग्रहः ॥ १२९॥

अर्थ—लोकोंमें मान पूजा यश द्रव्यकी प्राप्ति स्त्रियोंका समागम और वांछित पदार्थोंका संग्रह अपनेआपहि होने लगताहै इति ॥ १२९ ॥



तत्रासक्तं भवेच्चित्तं प्रसभं योगिनो भृशम् ।
ततोभ्यासं परित्यज्य योगाद्भ्रष्टो भवेद्ध्रुवम् ॥१३०

अर्थ—तिन मानपूजादिकोमें योगीका चित्त बलात्कारसे विशेष आसक्त होजावे है और फिर धीरे-धीरे अभ्यासको छोड करके योगसे भ्रष्ट होय जावे है इति ॥ १३० ॥

तस्मात्सर्वमनादृत्य योगोपकरणं विना ।
निःसंगो निर्जनस्थाने योगमेव सदाभ्यसेत् ॥ १३१

अर्थ—यातें योगीको चहिये कि योगाभ्यासकी उपयोगी वस्तुवोंके सिवाय और सर्वपदार्थोंका परित्याग करके सर्वसे असंग होकर एकांतस्थानमे सर्वदा काल केवल योगकाहि अभ्यास करे इति ॥ १३१ ॥

शब्दादि विषयालोके सुलभाः सर्वयोनिषु ।
दुर्लभं मानुषं देहं मत्वाऽऽसक्तिं न कारयेत् ॥१३२

अर्थ—क्योंकि शब्द स्पर्शादिक जो विषय हैं सो तो पशु, पक्षि आदिक सर्व योनियोंमे सुलभ हैं परंतु

यह मनुष्यका शरीर मिलना जीवको बडा दुर्लभ है यातें ऐसा समझकरके विषयोंमे आसक्ति नहि करनी चहिये इति ॥ १३२ ॥

घृतासेकाद्यथावह्नेर्ज्वाला भूयोभिवर्धते ।
विषयासेवनाज्जंतोस्तथा तृष्णाभिवर्धते ॥ १३३ ॥

अर्थ–जैसे घृतकी आहुती डालनेसे अग्निकी ज्वाला पुनः पुनः बढती जावे है तैसेहि विषयोंके सेवन करनेसे जीवकी नित्यं प्रति तृष्णा अधिक अधिक बढती है इति ॥ १३३ ॥

जितं तेन जगत्सर्वं येनेन्द्रियगणो जितः ।
इन्द्रियाणां वशे यस्मादेतद्विश्वमशेषतः ॥ १३४ ॥

अर्थ–अब प्रत्याहारका फल कहते हैं कि जिस पुरुषने अपनी इन्द्रियां जीती हैं तिसने मानो सारा जगतहि जीत लिया है क्यों कि संपूर्ण जगत् इन इन्द्रियोंकेहि वशीभूत होय रहा है इति ॥ १३४ ॥



जितेन्द्रियस्य चेतस्तु स्वतः शांतं प्रजायते ।
तेन सिद्धिर्हि योगस्य शीघ्रं भवति निश्चितम्॥१३५

अर्थ—तथा जितेन्द्रियपुरुषका चित्तभी स्वतः हि शांत होय जावे है और चित्तके शांत होनेसे शीघ्रहि योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ १३५ ॥

तस्मादिन्द्रियवर्गस्य प्रत्याहारं प्रयत्नतः ।
कृत्वा धीरमना योगी भवेदभ्यासतत्परः ॥ १३६ ॥

अर्थ—यातें धैर्ययुक्तमनवाले योगीको प्रयत्नसे सर्वइन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके निरंतरहि योगाभ्यासमे तत्पर होना योग्य है इति ॥ १३६ ॥

अथ धारणा

धारणायाः स्वरूपं तु सम्यगत्र निरूप्यते ।
यस्यास्त्वभ्यासतो योगी सर्वसिद्धीश्वरो भवेत्१३७

अर्थ—अब योगका छटा अंग जो धारणा है तिसका भलीप्रकारसे स्वरूप निरूपण करते हैं जिस

धारणाके अभ्यासससे योगी अणिमादिक सर्वसिद्धियों-
का अधिपति होवे है इति ॥ १३७ ॥

सर्वतो विनियम्यैकदेशे चित्तस्य बंधनम् ।
पुनः पुनः प्रयत्नेन धारणा सा निगद्यते ॥१३८॥

अर्थ—संसारके सर्व बाह्यपदार्थोंसे रोककरके चित्तको किसी एकस्थानमे वारंवार प्रयत्नसे जो निरोध करना है सो धारणा कहिये है इति ॥ १३८ ॥

देशा बहुविधाः प्रोक्ता धारणाया मुनीश्वरैः ।
स्वशरीरे तथा बाह्यपदार्थेषु यथारुचि ॥ १३९ ॥

अर्थ—तिस धारणा करनेके स्थानपूर्वके मुनिलोकोंने बहुत प्रकारके कथन किये हैं सो अपने शरीरमें तथा बाहिरके पदार्थोंमें जहां चित्तकी रुचि होवे तहां हि धारणा करे इति ॥ १३९ ॥

भ्रुवोर्मध्ये च नासाग्रे नाभौ वा हृदयांबुजे ।
शरीरे धारणां कुर्यादेकांते सुसमाहितः ॥१४०॥

अर्थ—दोनों भ्रुवोंका मध्यभाग नासिकाका अग्र-

भाग नाभिचक्र और हृदयकमल इन स्थानोंमेसें किसी एक स्थानमे एकांत बैठकर स्थिरचित्तसे अपने शरीरमे धारणा करनी चहिये इति ॥ १४० ॥



चंद्रे ध्रुवादि तारासु गिरिशृंगेथवा तरौ ।
देवताप्रतिमायां वा बहिश्चित्तं विधारयेत् ॥ १४१॥

अर्थ–चंद्रमंडलमे ध्रुवादिक किसी तारामें अथवा पर्वतके शिखरपर वा वृक्षकी शाखापर वा देवताकी प्रतिमामें इन स्थानोंमे किसी एकस्थानमें दृष्टिजमाकर शरीरके बाहिर चित्तको धारण करे इति ॥ १४१ ॥

धारणां कुर्वतश्चित्तं चलं गच्छेद्यतो यतः ।
ततस्ततो नियम्याशु धारणादेशमानयेत् ॥१४२॥

अर्थ–धारणा करने कालमें स्वभावसे चंचल जो चित्त है सो जहां जहां पदार्थोंमें जावे तहांतहांसें निरोध करके तिसको धारणाके स्थानमें लाना चहिये इति ॥ १४२ ॥

यततो योगिनश्चैवं यदा स्याद्धारणा दृढा ।
कर्मबंधाद्विनिर्मुक्तो भवेत्सिद्धस्तदा ध्रुवम् ॥१४३॥

अर्थ–इसप्रकार यत्न करतेहूये योगीकी जिसकालमें धारणा दृढ हो जावे है तो तिसकालमे सो सर्वकर्मोंके बंधनोंसे रहित भया निश्चयकरके सिद्धभावको प्राप्त होवे है इति ॥ १४३ ॥

नासाग्रे हृदयाम्भोजे भ्रूमध्ये च विशेषतः ।
कुर्वाणो धारणां योगी ज्योतिः पश्यति चिन्मयं १४४

अर्थ–नासाके अग्रभागमे और हृदयकमलमें तथा विशेषकरके भ्रूमध्यमे धारणा करनेसे योगीको चिन्मय ब्रह्म ज्योतिका दर्शन होवे है इति ॥ १४४ ॥

नाभिचक्रे यदा कुर्यात् धारणां योगविद्यदि ।
शरीराभ्यन्तरे सर्वं संस्थानं तु विलोकयेत् ॥१४५॥

अर्थ–तथा जिसकालमें योगीपुरुष नाभिचक्रमें धारणा करता है तो तिसकालमे अपने शरीरके अंदरकी सर्व रचनाको प्रत्यक्ष देख लेवे है इति ॥१४५॥

यदा तु धारयेद्योगी चित्तमादित्यमंडले ।
तस्य सर्वं भवेन्नूनं त्रैलोक्यं दृष्टिगोचरम् ॥१४६॥

अर्थ–तथा जब सूर्यमंडलमे योगी चित्तकी धारणा करताहै तो तिसको तीनो लोकोंके सर्व पदार्थ देखनेमे आते हैं इति ॥ १४६ ॥



धारणां कुर्वतश्चंद्रमंडले योगिनोखिलम् ।
नक्षत्राणामवस्थानं क्षिप्रं प्रत्यक्षतामियात् ॥१४७॥

अर्थ–और जब चंद्रमंडलमे योगी धारणा करे है तो तिसको सर्व नक्षत्रोंकी भिन्नभिन्न स्थितिका शीघ्रहि प्रत्यक्ष ज्ञान होवे है इति ॥ १४७ ॥

तारकाणां गतिं सर्वां ध्रुवे कुर्वंस्तु धारणाम् ।
सम्यग्योगी विजानीयादचिरं स्थिरमानसः ॥१४८

अर्थ–तथा जब ध्रुवतारामे योगी धारणा करता है तो सर्वतारागणोंकी भिन्नभिन्न गतिको शीघ्रहि भलीप्रकारसे जान लेवे है इति ॥ १४८ ॥

वृक्षाग्रे पर्वताग्रे वा धारणां कुर्वतः सदा।
भवेदाकाशगामित्वं सूक्ष्मदेहेन योगिनः ॥१४९॥

अर्थ—तथा जब वृक्षकी शाखामे या पर्वतके शिखिरमे योगी धारणा करता है तो स्थूलशरीरसे बाहिर निकल कर सूक्ष्म शरीरकरके आकाशमे गमन करजावेहै इति ॥ १४९ ॥

पृथिव्यां धारणां कृत्वा योगी तन्मयतां गतः।
निधिं पश्यति दूरस्थं पातालं स्वेच्छया व्रजेत् १५०

अर्थ—तथा जब पृथिवीमे अचल धारणा करके योगी तन्मयभावको प्राप्त होजावे है तो जमीनमे दूर गडेहूये धनको देखता है तथा अपनी इच्छासे पातालमे भी चला जावे है अर्थात् उसको पृथिवी मार्ग दे देती है इति ॥ १५० ॥

जले जलमयीं कुर्यात् धारणां योगविद्यदि।
जलस्तंभो भवेत्तस्य मीनवत्सलिले चरेत् ॥१५१॥

अर्थ—तथा जब जलमे जलमयरूपसे योगी धा-

रणा करताहै तो उसको जलके स्तंभन करनेकी शक्ति होजावे है सो जैसे मीन कच्छपादिक जलके जंतु जलमे रहते हैं तैसेहि सो योगीभी जलमे विचरने लगता है इति ॥ १५१ ॥

वह्निधारणया योगी नाग्निना दह्यते क्वचित् ।
स्वदेहमथवा दग्ध्वा सूक्ष्मदेहेन वै चरेत् ॥१५२॥

अर्थ–तथा जब योगी अग्निकी तन्मय धारणा करता है तो उसके शरीरको कबी अग्नि जलाय नहि सकता है अथवा उसकी इच्छा होवे तो अपने स्थूलशरीरको भस्मकरके सूक्ष्म शरीरसे विचरता है इति १५२

वायुधारणया योगी वायुवद्व्योमगो भवेत् ।
सूक्ष्मरंध्रेषु सर्वत्र प्रविशेदविरोधतः ॥ १५३ ॥

अर्थ–और जब योगी वायुकी तन्मयधारणा करता है तो वायुके समान आकाशमे चला जावे है तथा सर्वजगा सूक्ष्म छिद्रोंमें रोकटोकके विनाहि प्रवेश करजावे है इति ॥ १५३ ॥

व्योमधारणया तद्वत् व्योमवद्व्यापको भवेत् ।
सर्वमात्मन्यवेक्षेत्त जगदेतच्चराचरम् ॥ १५४ ॥

अर्थ–तथा तैसेहि आकाशकी तन्मयरूपसे धारणा करनेसे योगी आकाशकी न्याई सर्वजगा व्यापक होजावेहै तथा सर्व चराचर जगत्को अपने आपमे देखताहै इति ॥ १५४ ॥

विषयाधारणायास्तु संत्यन्येपि सहस्रशः ।
स्वयं बुद्ध्या विजानीयात् यथाकार्यं यथाक्रमम् १५५

अर्थ–इसीप्रकारसे औरभी धारणा करनेके हजारों स्थान हैं परंतु जहां जैसा कार्य होवे और जिसक्रमसे धारणा करनी होवे सो योगी पुरुषको तिस कालमें स्वयं अपनी बुद्धिसे विचारकरके धारणा करलेनी चहिये इति ॥ १५५ ॥

योगिनां क्षीणपापानां नित्यमेकांतवासिनाम् ।
युक्ताहारविहाराणां सिद्धा भवति धारणा ॥१५६

अर्थ–जिन योगीपुरुषोंके सर्व पाप क्षीण होजाते

हैं और जो सर्वदाकाल एकांतस्थानमे निवास करतेहैं तथा जिनका खानपानादिक व्यवहार योगाभ्यासके सर्वथा अनुकूल युक्तिपूर्वक होता है तिनकोहि उक्त धारणाकी सिद्धि होवे है इति ॥ १५६ ॥

अथ ध्यानम्

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि मुक्तिसाधनमुत्तमम् ।
यत्कृत्वा न पुनर्जंतुर्जातु मातुः स्तनं पिबेत् १५७

अर्थ—अब योगका सप्तम अंग जो ध्यान है तिसका निरूपण करतेहैं सो ध्यानहि जीवकी मुक्तिका परम श्रेष्ठ साधन है जिस ध्यानके करनेसे यह जीव फिर कबी माताके स्तनको पान नहि करता अर्थात् जन्ममरणसे छूट जाताहै इति ॥ १५७ ॥

सगुणं निर्गुणं चैव द्विधा ध्यानं प्रकीर्तितम् ।
सगुणं व्यक्तियुक्तं स्यादव्यक्तं निर्गुणं भवेत् १५८

अर्थ—सो ध्यान सगुण और निर्गुणभेदसे दोप्रकारका योगीलोकोंने कथन किया है तिनमे व्यक्ति-

युक्तध्यानको सगुण कहते हैं और अव्यक्तध्यानको निर्गुण कहते हैं इति ॥ १५८ ॥

स्वकीयहृदयांभोजे दलैर्द्वादशभिर्युते ।
चिंतयेत्सुस्थिरो भूत्वा संपूर्णं चंद्रमंडलम् ॥१५९॥

अर्थ–अब प्रथम सगुणध्यान निरूपण करते हैं प्रथम अपने हृदयमे द्वादशदल कमलका ध्यान करके तिसके बीचमे स्थिर चित्त होकर संपूर्ण चंद्रमंडलका चिंतन करे इति ॥ १५९ ॥

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी स्वर्णसिंहासनं महत् ।
रत्नैर्नानाविधैर्युक्तं कोमलास्तरणान्वितम् ॥१६०॥

अर्थ–फिर तिस चंद्रमंडलके बीचमे नानाप्रकारके रत्नोंसे जडित और कोमल बिछोने युक्त सुवर्णके सिंहासनका चिंतन करे इति ॥ १६० ॥

तस्योपरि समासीनं सूर्यकोटिसमप्रभम् ।
नारायणं चतुर्बाहुं शंखचक्रगदाधरम् ॥ १६१ ॥

शरदाकाशसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
वनमालालसत्कंठं मकराकारकुंडलम् ॥ १६२ ॥
मणिमेखलया युक्तं किरीटोज्ज्वलमस्तकम् ।
प्रसन्नवदनं देवं सर्वकामवरप्रदम् ॥ १६३ ॥
सार्वज्ञ्यादिगुणोपेतं विष्णुमव्ययमीश्वरम् ।
ध्यायेदनन्यधीरेवमापादतलमस्तकम् ॥ १६४ ॥

अर्थ–तिस सिंहासनके ऊपर श्रीविष्णु भगवान् विराजमान हैं कोटिसूर्यके समान जिनके शरीरकी प्रभा है चार भुजोंमें शंख चक्र गदा पद्म धारण किये हूये हैं शरदऋतुके आकाशके समान जिनके शरीरका स्वच्छ नीलरंग है पीतांबर पहरे हूये बनमाला और कौस्तुभमणि कंठमे शोभायमान है मकरके आकारवाले कुंडल कानोंमें धारण कियेहैं कमरमे मणियोंकी तडागी और मस्तकपर रत्नजडित मुकट प्रकाशवान् है मंदमंद हसता हूया प्रसन्न मुख है और सर्व मनोवांछित कामना तथा वरोंके देनेहारे हैं सर्व

जगत्के ईश्वर अविनाशी स्वरूप और सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादि गुणोंकरके युक्त हैं इस प्रकारसे एकाग्रचित्तहोकर चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यंत विष्णुपरमात्माका अभेदभावनासे ध्यान करे इति।६१।६२।६३।६४।

अथवा चिंतयेद्योगी शिवं तत्र समाहितः ।
कोटिचंद्रप्रतीकाशं कर्पूरोज्ज्वलकांतिकम् ॥ १६५ ॥
भस्मभूषितसर्वांगं नागालंकृतविग्रहम् ।
व्याघ्रचर्मपरीतांगं जटामंडितमस्तकम् ॥ १६६ ॥
चतुर्भुजं प्रसन्नास्यं चंद्रभालं त्रिलोचनम् ।
मृगशूलवराभीतिकरं सर्वज्ञमीश्वरम् ॥ १६७ ॥
गंगावारिलसत्केशं कुंडलोज्ज्वलकर्णकम् ।
ध्यायेद्देवं स्थिरो भूत्वा सर्वांगं सर्वकामदम् ॥१६८

अर्थ—अथवा जो योगीको शिवजीकी भक्ति इष्ट होवे तो हृदयकमलमे पूर्वोक्त सिंहासनके ऊपर स्थिर चित्त होकर शिवजीका ध्यान करे जैसेकि तिस सिं-

हासनके ऊपर श्रीशंकर विराजमान हैं कोटिचंद्रमाके समान जिनका तेज है कर्पूरके समान निर्मल श्वेत जिनके शरीरका वर्ण है सर्वअंगोमें भस्म धारण करी है कमर भुजा तथा गलेमे नागोंके भूषणोंसे शरीर शोभायमान होय रहा है व्याघ्रचर्मका वस्त्र पहरे हूये हैं शिरपर जटाजूट शोभा देरहा है चार भुजा प्रसन्नवदन मस्तकमे चंद्रमा और तीन नेत्र हैं चारो हाथोंमे मृगत्रिशूल वरदान और अभयदान धारण किये हैं तथा शिरकी जटामें गंगाजलकी धारा चल रही है कानोंमें कुंडल शोभायमान होय रहे हैं सर्वज्ञ सर्वजगत्के ईश्वर और सर्वकामनायोंके देनेहारे हैं इसप्रकारसे स्थिर चित्त होयकर चरणसे लेकर मस्तकपर्यंत सर्वांग संपूर्ण शिवजीका ध्यान करना चहिये इति ६५।६६।६७।६८।

सगुणं ध्यानमित्येतत् विष्णोश्चैव शिवस्य वा ।
कृत्वा योगी भवेद्विष्णोःशिवस्यापि समःस्वयम्१६९

अर्थ—यह जो विष्णुभगवान् और शिवजीका सगुण ध्यान कथन कियाहै इसके करनेसे योगी आप्भी विष्णु अथवा शिवके समान होजावे है इति ॥१६९

पुष्पसंयोगतस्तैले यथा गंधः प्रवर्तते ।
योगिदेहे तथा ध्यानाज्जायते गुणसंक्रमः ॥१७०॥

अर्थ—फूलोंके संयोगसे जैसे तेलमे सुगंधि प्रवेश कर जावे है तैसेहि विष्णु अथवा शिवका ध्यान करनेसे उनके सर्वज्ञादि गुणोंका योगीके शरीरमे प्रवेश होवे है इति ॥ १७० ॥

सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः सर्वशक्तिसमन्वितः ।
जीवन्मुक्तश्चरेद्योगी सायुज्यं चांततो व्रजेत्॥१७१

अर्थ—सो ध्यानकी परिपक्कतासे सर्वज्ञ सत्यसंकल्प सर्वशक्तिमान् और जीवन्मुक्त भया योगी विचरता है तथा शरीरके अंतकालके अनंतर विष्णुलोक अथवा शिवलोकमें सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होवे है इति १७१

अथ निर्गुणध्यानम्

पद्मासने स्थितो योगी स्थिरकायः समाहितः ।
निमील्य नयने पश्येत् भ्रुवोर्मध्यं सदा धिया ॥१७२

अर्थ–पद्मासनमे बैठकर शरीरको स्थिर रखकरके और चित्तको एकाग्रकरके दोनों नेत्रोंको बंद करके अंदरसे मनकी वृत्तिरूप दृष्टिसे दोनों भ्रुवोंके मध्यभागमे निरंतर देखना चहिये इति ॥ १७२ ॥

दृश्यते प्रथमाभ्यासे नभः कृष्णं तु केवलम् ।
ततस्तारानिभं तेजो दृश्यते तु कदाकदा ॥१७३॥

अर्थ–प्रथम अभ्यासकालमे केवल काले रंगका आकाश देखनेमे आता है और पीछे कुछदिनोंके बाद ताराके समान कबीकबी तेज नजरमे आता है इति ॥ १७३ ॥

नानावर्णयुतं पश्चादस्थिरं दृष्टिगं भवेत् ।
ततोऽर्धचंद्रसंकाशं शून्यचक्रसमं ततः ॥ १७४ ॥

अर्थ–तिसके पीछे नानाप्रकारके रंगोंसे युक्त चं-

५

चल तेज दृष्टिमे आवे है अर्थात् तिस कालमे जो तत्त्व शरीरमें चलता होवे उसी तत्त्वका रंग तेजमे दीखता है और तिसके बाद अर्धचंद्राकार ज्योति नजरमें आवे है तिसके अनंतर चारों तरफ़ तेज और बीचसे खाली चक्रके समान देखनेमे आवे है इति ॥ १७४ ॥

पूर्णचक्रसमं पश्चात् सूर्यमंडलसंनिभम् ।
दृश्यते परमं ज्योतिर्ब्रह्मभूतं निरामयम् ॥१७५॥

अर्थ–तिसके पीछे कुछ दिन अभ्यास बढनेसे पूर्णचक्रके आकार तेज नजर आवे है और तिसके पीछे साक्षात् सूर्यमंडलके समान ब्रह्मरूप परमानंद-मय ज्योति देखनेमे आवे है इति ॥ १७५ ॥

परमानंदसंदोहमज्ञानध्वांतनाशनम् ।
योगिनो मनसस्तुष्टिकरं क्लेशहरं परम् ॥ १७६ ॥

अर्थ–सो ब्रह्ममय ज्योति परमानंदके देनेवाला अज्ञानरूप अंधेरेको नाश करनेवाला और सर्वक्ले-

शोंके दूर करनेवाला योगीके मनको परम संतोष करता है इति ॥ १७६ ॥

क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनस्तत्प्रविलीयते ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते स्थिरं भवति कालतः१७७

अर्थ—और सो तेज क्षणमात्र दृष्टिगोचर होकरके फिर शीघ्रहि लीन होजावेहै और फिर अभ्यासके दृढ होजानेसे सो तेज दृष्टिके आगे स्थिर होजाता है इति ॥ १७७ ॥

दिनानुदिनमित्येवं निर्विघ्नाभ्यासतोध्रुवम् ।
क्रमाद्विस्तारमायाति तज्ज्योतिःपरमं महत् ॥१७८

अर्थ—उक्तप्रकारसे दिनदिन निर्विघ्न अभ्यासके बढनेसे सो परम महान् ज्योति क्रमसे विस्तारको प्राप्त होता जाताहै इति ॥ १७८ ॥

आदौ गृहगतं सर्वं वस्तु ध्याने निरीक्ष्यते ।
ततो बाह्यं ततो दूरं ततो दूरतरं पुनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—जब दीर्घकालके ध्यानसे सो तेज विस्ता-

रको प्राप्त होने लगता है तो पहले अपने घरके अंदरकी पडीहुई वस्तु सब देखनेमे आतीहै और फिर बाहिरकी वस्तु नजर आती हैं और पीछे दूरकी वस्तु देखनेमें आती हैं तथा तिसके पीछे बहुत योजन दूरके पदार्थ देखनेमें आते हैं इति ॥ १७९ ॥

नानावनानि रम्याणि निर्मलानि सरांसि च ।
समीपस्थानि दृश्यंते गिरीणां शिखराणि च ॥१८०

अर्थ–तथा नानाप्रकारके दूरके रमणीय वन और निर्मल सरोवर तथा हिमालयादि पर्वतोंके शिखर अपने समीपास्थितकी न्यांई देखनेमें आतेहैं इति ॥१८०॥

सिद्धा महर्षयश्चैव दृश्यंतेऽबरचारिणः ।
तारकामंडलं सर्वं देवतायतनानि च ॥१८१॥

अर्थ–तथा आकाशमें बिचरनेवाले सिद्धलोक और महर्षिलोक तथा सर्व तारोंका मंडल और देवतायोंके स्थान समीप देखनेमें आतेहैं इति ॥ १८१ ॥

एवं क्रमेण कालेन योगिनोऽभ्यासयोगतः ।
दिव्या दृष्टिर्भवत्येव त्रैलोक्यालोकने क्षमा ॥१८२॥

अर्थ—इसप्रकारसे शनैः शनैः क्रमसे दीर्घकालके अभ्यासयोगसे योगीको तीनों लोकोंके देखनेवाली दिव्यदृष्टि होजाती है इति ॥ १८२ ॥

स्वयं ज्योतिर्मयो भूत्वा योगी तद्गतमानसः ।
ब्रह्मण्येव लयं याति परे ज्योतिःस्वरूपिणि ॥ १८३॥

अर्थ—तथा सो योगी तिस ज्योतिके ध्यानकी तत्परायणतासे आपभी ज्योतिःस्वरूप हुया परम ज्योतिस्वरूप ब्रह्ममें लयको प्राप्त होवे है इति ॥ १८३ ॥

अथ समाधिः

समाधिमधुना वक्ष्ये भवपाशनिकृंतनम् ।
समाधानं हि चित्तस्य समाधिं मुनयो विदुः॥१८४

अर्थ—अब योगका आठवां अंग जो समाधि है तिसको कथन करते हैं चित्तका जो समाधान अर्थात्

स्थिर शांत अवस्था है तिसको मुनिलोक समाधि कहते हैं इति ॥ १८४ ॥

समाधिर्हठयोगेन राजयोगेन वा भवेत् ।
द्विविधोपि विधिस्तस्य सम्यगत्र निरूप्यते ॥१८५

अर्थ—सो समाधि हठयोगद्वारा तथा राजयोगद्वारा दोप्रकारसे होवे है सो उसकी दोनों प्रकारकी विधिको यहां भली प्रकारसे निरूपण करते हैं इति ॥ १८५ ॥

गुदमेढ्रांतरे वामपादपार्ष्णि नियोजयेत् ।
सीवनीमध्यभागेतु संस्थितः कोमलासने ॥१८६॥

अर्थ—तिन दोनोंमे प्रथम हठयोग समाधिकी विधि कथन करते हैं गुदा और लिंगके बीचमें सीवनीके मध्यभागमें अर्थात् दोअंगुल गुदाकी तरफ और दो-अंगुल लिंगकी तरफ छोडकरके बराबर मध्यभागमें बायें पैरकी एडीको भलीप्रकारसे जमायकर पूर्वोक्त सिद्धासनकी विधिसे रुईकी गद्दी आदिक कोमलासन-पर बैठे इति ॥ १८६ ॥

सीवनीपार्ष्णिसंबंधं दृढं कुर्यात्तथाऽचलम् ।
तस्मिंस्तु शिथिलेऽपानः सम्यगूर्ध्वं न गच्छति १८७

अर्थ—सीवनी और एडीके संबंधको दृढ और अचल करके बैठना चहिये क्योंकि एडीके शिथिल होनेसे अथवा चलायमान होनेसे अपानकी गति ऊपरकी तरफ ठीकठीक नहि होती है इति ॥ १८७ ॥

सरलं मेरुदंडं च जिव्हाग्रं दंतमध्यगम् ।
कृत्वा ध्यानं ततः कुर्यात् भ्रूमध्ये स्थिरमानसः १८८

अर्थ—और पृष्ठके मेरुदंडको सीधा रखकर तथा जिव्हाके अग्रभागको अगले दांतोंमें थोडासा दबाकर दोनों भ्रुवोंके मध्यमें स्थिर चित्तसे ध्यान करे इति ॥ १८८ ॥

अनेनापानवायुस्तु व्रजेदूर्ध्वं न संशयः ।
निबद्धो मूलबंधेन नीचैर्गतिनिरोधतः ॥ १८९ ॥

अर्थ—इसप्रकार मूलबंधसे रुकाहुया नीचेकी ग-

तिके निरोध होनेसे अपान वायु धीरेधीरे उलटकर ऊपरकी तरफको चडने लगता है इति ॥ १८९ ॥

मूलाधारात्समुत्थाय स्वाधिष्ठानालयं व्रजेत् ।
शनैरभ्यासयोगेन तस्मादुपरि गच्छति ॥ १९० ॥

अर्थ—सो अपानवायु प्रथम मूलाधारचक्रसे उठकरके स्वाधिष्ठानचक्रमे आता है और तहांसे धीरेधीरे अभ्यासके बलसे स्वाधिष्ठानचक्रको भेदन करके ऊपरको चडता है इति ॥ १९० ॥

नाभिचक्रसमीपे तु संभूय परितः शनैः ।
कुंडलीं बोधयित्वाथ क्रमादूर्ध्वं प्रधावति ॥१९१॥

अर्थ—और फिर नाभिचक्रके नीचे सर्वतरफसे एकठा होवे है तथा पीछे कुंडलिनी शक्तिको जगाय करके शनैः शनैः क्रमसे ऊपरको चडता है इति॥१९१॥

ततः कतिपयैरेवं दिनैर्नाभिं विलंघ्य वै ।
हृदयं कंठदेशं च समायाति समीरणः ॥ १९२ ॥

अर्थ—तिसके अनंतर कितनेक दिनोंमें अभ्यास

करनेसे सो अपानवायु नाभिचक्रको उल्लंघन करके ऊपर हृदयचक्रमें आवे है और तिसके पीछे कुछदिनोमें कंठचक्रमें आवे है इति ॥ १९२ ॥

ततो बुद्ध्या नयेदूर्ध्वं भ्रूमध्यं योगवित्तमः ।
ब्रह्मरंध्रं ततो नीत्वा तत्रैव स्थिरतां नयेत् ॥१९३॥

अर्थ–इसप्रकार मूलबंधके अभ्याससे जब सो अपानवायु प्राणको साथ लेताहूया कंठमें आय जावे तो फिर वहांसे योगविद्याके जाननेवाला योगी ध्यानसे तिसको भ्रूमध्यमें लेजावे तथा फिर भ्रूमध्यसे ध्यानसे ऊपर ब्रह्मरंध्रमें लेजायकर तहां ब्रह्मरंध्रमें धारणाकरके प्राणको स्थिर करदेवे इति ॥ १९३ ॥

स्थित्वा तत्र यथाशक्ति भ्रूमध्यं पुनरानयेत् ।
प्राणं प्रवेशयेद्देहे क्रमादवतरन् सुधीः ॥ १९४ ॥

अर्थ–और यथाशक्ति ब्रह्मरंध्रमें प्राणोंको स्थिरकरके फिर भ्रूमध्यमें ध्यानकरके धीरेधीरे प्राणोंको नीचे उतारलेवे और फिर भ्रूमध्यसे कंठमे कंठसे हृदयमे

हृदयसे नाभिमे और नाभिसे आधारचक्रमे क्रमसे उतारकरके सर्वशरीरमे जहांका तहां प्राणोंको प्रवेशकरके स्थापन करदेवे इति ॥ १९४ ॥

एवं कुर्यात्सदाभ्यासं प्रतिदिनमतंद्रितः ।
यथा मूर्धनि प्राणस्य सर्वस्यारोहणं भवेत् ॥१९५

अर्थ–इसप्रकार उक्तरीतिसे मूलबंधद्वारा निरालस होकर नित्यही प्राणोंके चडानेका अभ्यास करना चहिये कि जिससे सर्वशरीरका प्राण खिंचकर ऊपर मस्तकमें चडजावे इति ॥ १९५ ॥

अन्नाहारं परित्यज्य केवलं दुग्धभुग्भवेत् ।
शरीरलघुताभावे प्राणाकृष्टिर्न जायते ॥ १९६ ॥

अर्थ–इस प्राण चडानेके अभ्यास कालमें अन्नव्यंजनादि भोजनका परित्याग करके योगीपुरुषको केवल दूधकाहि पान करना चहिये क्योंकि अन्नका भोजन करनेसे शरीरके हलके नाहिहोनेसे सर्वशरीरसे

प्राणोंका आकर्षण भलीप्रकारसे नहि होय सके है इति ॥ १९६ ॥

प्राणस्यारोहणे तत्र चतस्रो गतयः क्रमात् ।
भवंति योगिनो देहे नित्यमभ्यासयोगतः ॥१९७॥

अर्थ—उक्तरीतिसे नित्य अभ्यास करनेसे प्राणके ऊपर चडनेकालमे योगीके शरीरमें चारप्रकारकी प्राणकी क्रमसे गति अर्थात् चाल होवे है इति ॥ १९७ ॥

पिपीलिकासमा पूर्वं ततो दर्दुरसंनिभा ।
गतिः सर्पोपमा पश्चात् हंसस्य तदनंतरम् ॥१९८॥

अर्थ—प्रथम अभ्यासमे कीडीकी चाल जैसी प्राणोंकी ऊपरको गति होवे है और फिर कुछदिनोंमे मेडक जैसी गति होवे है अर्थात् जैसे मेडक कूद कूद कर चलता है तैसेहि प्राण एकचक्रसे दूसरेमे और दूसरेसे तीसरे चक्रमे चडता है तिसके पीछे सर्पकी चालके समान प्राणकी गति होवे है जैसे सर्प लंबा होकर चलता है तैसेहि प्राण पादांगुष्ठसे लेकर सर्व-

चक्रोंसे एकाकारहोकर ऊपरको चडता है और तिसके अनंतर हंसकी चालके समान प्राणकी गति होवे है अर्थात् जैसे हंसपक्षी पैर उठाकर चलता है तैसेहि प्राण शरीरके नीचेके भागसे उठकर शीघ्र हि ऊपर मस्तकमे चड जाता है इति ॥ १९८ ॥

यदा हंसगतिः सम्यक् क्रमात्प्राणस्य जायते ।
तदा शरीरात्प्राणस्य सम्यगाकर्षणं भवेत् ॥ १९९

अर्थ–जिस कालमें अभ्यासकरके क्रमसे प्राणकी हंसके समान गति होवे है तो तिसकालमें शरीरसे प्राणोंका भलीप्रकारसे ठीक आकर्षण होवे है इति १९९

सर्वांगेभ्यः समाकृष्टो यदा प्राणानिलो व्रजेत् ।
ब्रह्मरंध्रमशेषेण समाधिर्जायते तदा ॥ २०० ॥

अर्थ–जिसकालमें शरीरके सबअंगोंसे खिंचा हूया प्राणवायु संपूर्ण मस्तकमें चडजावे है तो तिसकालमे समाधि हो जावे है इति ॥ २०० ॥

देहः शून्यो भवेत्सर्वो जगद्विस्मरणं भवेत् ।
स्वप्रकाशे परानंदे मनोवृत्तिर्विलीयते ॥ २०१ ॥

अर्थ–तिसकालमें सर्वशरीर प्राणोंसे रहित शून्य होजावे है और सर्व बाह्यप्रपंचका विस्मरण होजावे है तथा योगीकी मनोवृत्ति स्वयंप्रकाशस्वरूप परमानंदरूप ब्रह्ममें लीन होजावे है इति ॥ २०१ ॥

निमग्नस्तन्मयो भूत्वा तस्मिन्नानंदसागरे ।
दीर्घकाले गते योगी क्षणमात्रं हि मन्यते॥२०२॥

अर्थ–तिस आनंदस्वरूप समुद्रमें तन्मय होकर निमग्नभया सो योगी बहुतकाल बीत जानेपरभी एकक्षणमात्र मानता है इति ॥ २०२ ॥

शिष्यो विज्ञातसंकेतो योगिनं बोधयेत्ततः ।
कर्णनादैः शिरस्तालैरुष्णवारिनिषेचनैः ॥ २०३ ॥

अर्थ–फिर जब समाधि उतारनी होवे तो प्राणोंके उतारनेकी युक्तिके जाननेवाला जो शिष्य पास होवे सो कानोंमे ऊंचे शब्द बोलनेसे किंवा शिरमें हाथकी

हथेलीसे थबथबानेसे अथवा शिरमे थोडा गरमजल डालनेसे योगीको समाधिसे जगावे इति ॥ २०३ ॥

शिष्यं विनापि शक्नोति योगी प्राणावरोहणम् ।
स्वयं कर्तुं न संदेहः कालेनाभ्यासपाटवात् ॥२०४

अर्थ—यह समाधिसे प्राणोंका नीचे उतारना दीर्घकालके अभ्यासकी होशियारीसे शिष्यके बिनाभी योगी अपने आपहि करसकता है इति ॥ २०४ ॥

अवतार्य ततो योगी प्राणं संकल्पयोगतः ।
स्थापयित्वा यथास्थानं स्वस्थदेहः सुखं चरेत् २०५

अर्थ—उक्तरीतिसे शिष्यके द्वारा अथवा अपने आप ब्रह्मरंध्रसे संकल्पके बलसे नीचे भ्रूमध्यादि चक्रोमें ध्यानक्रमसे प्राणोंको नीचे उतारकर तिनको सर्वशरीरमे अपने अपने स्थानमें यथायोग्य स्थित करे जब सर्वशरीर स्वस्थ होजावे तो फिर मरजीसे उठे बैठे आराम करे इति ॥ २०५ ॥

अथवोत्कर्षयेत्प्राणं पूर्वोक्तविधिना सुधीः ।
पश्चिमेनैव मार्गेण नित्यं केवलकुंभकात् ॥ २०६ ॥

अर्थ—अब दूसरे प्रकारसे हठयोगसमाधिकी विधि कथन करते हैं अथवा पूर्व प्राणायामके प्रकरणमे जो सुषुम्नाके पश्चिममार्ग खोलनेकी विधि कथन करी है उस विधिसे केवल कुंभकका नित्यं प्रति अभ्यासकरके पश्चिममार्ग मेरुदंडसे प्राणोंको ऊपर चडावे इति ॥ २०६ ॥

आपूर्य कुंभितो वायुः पृष्ठमार्गेण मस्तकम् ।
अल्पमल्पं व्रजेदादौ पश्चात्पूर्णं प्ररोहति ॥ २०७ ॥

अर्थ—पश्चिममार्गके अभ्यासमे बाहिरसे पूरक करके कुंभक किया हूया प्राणवायु पहले थोडा थोडा मस्तकमे चडता है और पीछे अभ्यास ठीक होजानेसे संपूर्ण प्राण ऊपर ब्रह्मरंध्रमें चडजाता है इति ॥२०७॥

यदा तु कुंभिते प्राणे रेचनं नैव जायते ।
तदा पश्चिममार्गेण समाधिर्जायते ध्रुवम् ॥२०८॥

अर्थ—जिसकालमे प्राणके कुंभक करनेसे फिर रेचन नहि होवेहै अर्थात् प्राण अंदरका अंदर हि लीन होकर पृष्ठमार्गसे ऊपरको चडजावे है तो तिसकालमें पश्चिममार्गसे समाधि होजावे है इति ॥ २०८ ॥

समाध्यभ्यासतः प्राणो योगिनो वशितामियात् ।
स यथा प्रेरयत्येनं तत्रैवायाति सत्वरम् ॥ २०९॥

अर्थ—इसप्रकार समाधिके दीर्घकाल अभ्यास करनेसे सर्वशरीरका प्राण योगीके वशमे होजाता है और सो योगी जिसकालमे जहां प्राणको लेजाना चाहता है उसी स्थानमे सर्वशरीरका प्राण खिंचकर शीघ्रहि चला आता है इति ॥ २०९ ॥

संकल्पानुविधायित्वं यदा प्राणस्य जायते ।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम्॥२१०॥

अर्थ—उक्तरीतिसे जिसकालमे सर्व शरीरका प्राण संकल्पका अनुसारी होजावे है तो तिसकालमे निश्चय-

करके योगीके शरीरमे नानाप्रकारकी विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होवे है इति ॥ २१० ॥

बहिर्देशे यदा योगी धारणां कुरुते चिरम् ।
त्यक्त्वा देहं व्रजेत्प्राणो बहिरेव न संशयः ॥२११॥

अर्थ—जब अपने शरीरसे बाहिर दीपक तारा मणि वृक्ष शाखादि देशमे योगी चिरकालपर्यंत धारणा करता है तो उसकालमें शरीरको छोडकरके प्राण बाहिरहि निकल जाता है इति ॥ २११ ॥

कायः शवत्वमायाति योगी वायुसमो भवेत् ।
देहबंधाद्विनिर्मुक्तः स्वातंत्र्यं परमं व्रजेत् ॥२१२॥

अर्थ—प्राणके बाहिर निकलजानेसे योगीका शरीर मुरदे जैसा होजाता है और सो योगी वायुके समान सूक्ष्म होजावे है तथा देहरूपी बंधनसे मुक्त भया परम स्वतंत्र भावको प्राप्त होवे है इति ॥ २१२ ॥

अणुवत्सूक्ष्मरूपोसौ विचरेद्भुवनत्रये ।
इयमेवाणिमा नाम सिद्धिः सिद्धैरुदीरिता ॥२१३॥

अर्थ—और अणुके समान सूक्ष्मरूप होकर सो योगी तीनों भुवनोंमें बिचरता है इसी सूक्ष्म शरीरकी गतिको सिद्धलोक अणिमासिद्धि कहते हैं इति ॥ २१३ ॥

स्वदेहे परदेहे वा जीविते वा मृतेऽथवा ।
यत्र प्रवेष्टुमीहेत प्रविशत्यचिरं ध्रुवम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—इसप्रकार शरीरसें बाहिर निकलकर योगी फिर अपने शरीरमें अथवा किसी दूसरे शरीरमें जीते हुये शरीरमें अथवा किसी मृतक शरीरमे जहां प्रवेश करना चाहे उसीमें शीघ्रहि निश्चयकरके प्रवेश कर जावे है इति ॥ २१४ ॥

प्रविश्य धनिनां देहे राजादीनामवारितः ।
भुक्त्वा भोगानशेषेण स्वदेहं पुनराविशेत् ॥२१५॥

अर्थ—अथवा राजादिक धनी लोकोंके शरीरमें बिनारोकटोकके प्रवेश करके और तिनके सर्वभोगोंको भोग करके फिर अपनी देहमें प्रवेश कर जावे है इति ॥ २१५ ॥

आकाशे दीर्घमध्वानं गत्वा दृष्ट्वाच तद्गतान् ।
पदार्थानखिलाँस्तूर्णं स्वदेहं पुनराविशेत् ॥२१६॥

अर्थ–अथवा आकाशमें ऊपर बहुत दूर मार्गतक जायकरके और वहां आकाशमें रहनेहारे सर्व पदार्थोंको शीघ्रही देखकरके फिर अपनी देहमें प्रवेश करजावे इति ॥ २१६ ॥

स्वदेहे वृद्धतां याते क्षीणे वा व्याधिसंयुते ।
हित्वा देहं विशेदन्यं कायं वा नवयौवनम् ॥२१७

अर्थ–अथवा जो अपना शरीर बहुत वृद्ध होगया होय वा अति क्षीण होगया होय अथवा कोई असाध्य रोगकरके पीडित होगया होय तो उस अपने शरीरको छोडकरके दूसरे किसीके नवीन यौवनसंपन्न मृतकशरीरमें प्रवेश करजावे इति ॥ २१७ ॥

जीवन्मुक्तिरियं प्रोक्ता जीवतां बंधहारिणी ।
शास्त्रावलोकनेनैव जीवन्मुक्तो न जायते ॥२१८॥

अर्थ–इसप्रकार जीतेजीहि जो स्थूलशरीरके

बंधनसें छूट जाना है तिसीको पूर्वके ऋषिलोकोंने जीवन्मुक्ति कथन करी है क्योंकि वेदांतादि शास्त्रोंके पठनमात्रसे यह पुरुष जीवन्मुक्त नहि होसकता है इति ॥ २१८ ॥

सिद्धयोऽन्याश्च कालेन जायंते स्वयमेवहि ।
योगिनो नित्ययुक्तस्य मुक्तस्य देहबंधनात् ॥२१९

अर्थ—उक्तप्रकारसे अणिमासिद्धि प्राप्त होनेके अनंतर योगाभ्यासमें तत्पर और स्थूल शरीररूपी बंधनसे मुक्त भया जो योगी है तिसको काल पायकरके महिमा लघिमादिक दूसरी सिद्धियांभी स्वतः हि प्राप्त होजाती हैं इति ॥ २१९ ॥

अथ राजयोगसमाधिः

राजयोगसमाधेस्तु भेदा बहुविधा मताः ।
तेषु मार्गद्वयं वक्ष्ये सत्वरं योगसिद्धिदम् ॥२२०॥

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्तरीतिसे हठयोग विषयक समाधिका निरूपण करके अब राजयोग समाधिका

वर्णन करते हैं सो राजयोग समाधिके योगी लोकोंने बहुत प्रकारके भेद कथन किये हैं तिन सर्व भेदों-मेंसे शीघ्रहि योगसिद्धिके देनेहारे मुख्य दो प्रकारके मार्ग यहां निरूपण करते हैं इति ॥ २२० ॥

खेचरीमुद्रया वापि नादश्रवणतस्तथा ।
निर्विकल्पसमाधिः स्यात् कालेनाभ्यासयोगतः ॥

अर्थ–खेचरी मुद्राकरके अथवा नाद श्रवण कर-नेसे दीर्घकालके अभ्याससे निर्विकल्प समाधि होवे है इति ॥ २२१ ॥

खेचरीसाधनं तत्र प्रथमं परिकीर्त्यते ।
मुख्या सा सर्वमुद्रासु सेविता योगिपुंगवैः ॥२२२

अर्थ–तिनमें प्रथम खेचरीसाधनका प्रकार कथन करते हैं क्योंकि सर्व मुद्रायोंमे खेचरी मुद्रा मुख्य है और श्रेष्ठ योगी पुरुषोंने आदरसे इस मुद्राका सेवन किया है इति ॥ २२२ ॥

जिह्वाधो नाडिका सूक्ष्मा जिह्वांतर्गतिरोधिका।
छेदयेत्तां क्रमाद्धीरः सूक्ष्मशस्त्रेण युक्तितः॥२२३

अर्थ—जिव्हाके नीचे जो सूक्ष्म नाडी है सो तालु रंध्रमें जिव्हाके प्रवेश होनेमें प्रतिबंधकरूप है इस लिये धैर्यवान् पुरुष प्रथम उस नाडीको सूक्ष्म शस्त्र करके क्रमसे युक्तिपूर्वक छेदन करे इति॥२२३॥

यावज्जिह्वा परावृत्य संस्पृशेन्नैव घंटिकाम्।
शिरां संछेदयेत्तावदल्पमल्पं न वै सकृत्॥ २२४॥

अर्थ—जबतक जिव्हा उलटी लोटकर कंठकी घंटिकाको स्पर्श न करे तबतक तिस नाडीका छेदन करना चहिये और सो छेदन एकबारहि नहि करना किंतु थोडा थोडा करना चहिये इति॥ २२४॥

छेदस्थाने शिवाचूर्णं सैंधवेन समन्वितम्।
दद्यादल्पं प्रतिच्छेदं व्रणस्तेन प्रपूर्यते॥२२५॥

अर्थ—छेदन करीहुई नाडीकी जगापर थोडा सेंधा निमकमें हरडका चूर्ण मिलाकर हरएक छेदनके

वकत लगाना चहिये इस चूर्णके नित्य दो तीन वार लगानेसे नाडीका चार पांच दिनमें जखम भरजाता है इति ॥ २२५ ॥

व्रणे पूर्णे पुनश्छेदो रोपणं छेदनं पुनः ।
एवं क्रमेण षण्मासात् शिराबंधो विनश्यति ॥२२६

अर्थ–पहलेका व्रण भरजावे तब दूसरा छेदन करना चहिये और तिस जखमके भरजानेसे फिर छेदन करना चहिये इसप्रकार क्रमसे छेदन करनेसे छे महीनेके अंदर जिव्हाकी नाडीका बंधन ठीक कटजाता है इति ॥ २२६ ॥

छेदनानंतरं कुर्यात् चालनं दोहनं तथा ।
जिह्वाग्रं करयुग्मेन गृहीत्वा घृतयोगतः ॥ २२७॥

अर्थ–पांच छे महीनेमें जब नाडी छेदनका काम पूर्ण होजावे तो पीछे दोनों हाथोंसे जिव्हाके अग्र-भागको अंगुलियोंसे पकड करके थोडा घृत लगाकर

चालन और दोहन करना चहिये अर्थात् बाहिर खेंच खेंचकर जिव्हाको लंबी करनी चाहिये इति ॥२२७

क्रमेण वृद्धिमायातां निष्पीड्यांगुलितः शनैः ।
जिव्हां प्रवेशयेद्योगी कपालकुहरे ततः ॥ २२८॥

अर्थ—जब कुछ दिनोंमें क्रमसे जिव्हा लंबी हो जावे तो तिसको योगी अंगुलियोंसे दबाकरके धीरे धीरे उलटा करके गलेके अंदर ऊपरकी तरफ कपालके छिद्रमें प्रवेश करे इति ॥ २२८ ॥

तर्जन्या घंटिकां पूर्वं गृहीत्वाकर्षयेद्बहिः ।
ततः प्रवेशयेज्जिह्वां शीघ्रं विशति नान्यथा ॥२२९

अर्थ—प्रथम तर्जनी अंगुलीसे तालुकी घंटिकाको पकडकर बाहिरकी तरफ खेंचना चहिये और फिर जिव्हाको अंदरकी तरफ प्रवेश करना चहिये क्योंकि घंटिकाको पहले खेंचे विना जिव्हा कपालछिद्रमें जलदी प्रवेश नहि करती है इति ॥ २२९ ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
ध्यानं भ्रूमध्यदेशे च मुद्रा भवति खेचरी ॥२३०॥

अर्थ–जिस कालमें उलटकरके जिव्हा कपालके छिद्रमें प्रवेश करजावे और भ्रूमध्यमें ध्यान लगाया जावे तो खेचरी मुद्रा पूर्ण होजाती है अर्थात् खेचरी लगाकर भ्रूमध्यमें ध्यान करना चहिये इति ॥ २३० ॥

यथायथा भवेद्दीर्घा जिह्वा यत्नेन योगिनः ।
तथातथा गुणाधिक्यं विज्ञेयं योगसाधने ॥२३१॥

अर्थ–जैसेजैसे यत्नकरके योगीकी जिव्हा ज्यादा लंबी होवेहै तैसे तैसेहि योगसाधनेमें अधिक गुण जानना चहिये इति ॥ २३१ ॥



खेचरीमुद्रिकाभ्यासं नित्यमेव समाचरेत् ।
संधयोरुभयोर्योगी जितप्राणो मिताशनः ॥१३२॥

अर्थ–उक्तरीतिसे जब खेचरी मुद्रा पूर्ण होजावे तो प्राणको जय किया हूया और मिताहार करने-

वाला योगी प्रातःकाल तथा सायंकाल दोनों वकत तीन चार घटिकापर्यंत तिसका नित्यहि अभ्यास करे इति ॥ २३२ ॥

दिनैः कतिपयैरेवमभ्यासं कुर्वतः सदा ।
योगिनो योगनिद्रा वै समुदेति सुखप्रदा ॥२३३॥

अर्थ—इस प्रकारसे कितनेक दिन अभ्यास करनेसे योगीको आनंदके देनेहारी योगनिद्रा शुरु होवेहै अर्थात् निद्राकी न्यांई जाग्रतावस्थामें चित्तका लय होने लगता है इति ॥ २३३ ॥

योगनिद्राचिराभ्यासात् निर्विकल्पः प्रजायते ।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं समाधिस्थो भवेन्नरः ॥२३४

अर्थ—और तिस योगनिद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे योगी निर्विकल्पावस्थाको प्राप्त होवे है तथा सर्व बाह्यप्रपंचको भूल करके राजयोगसमाधिमे स्थित होजावे है इति ॥ २३४ ॥

अथवा खेचरीकाले कुर्यात्केवलकुंभकम् ।
प्राणस्यारोहणं तेन मेरुदंडे प्रजायते ॥ २३५ ॥

अर्थ—अथवा खेचरी मुद्राद्वारा हठयोग समाधिभी होसकती है सो जब हठसमाधि करनेकी योगीकी इच्छा होवे तो खेचरीके अभ्यासकालमे खेचरी लगाकर केवल कुंभकका अभ्यास करे तो तिसकरके पश्चिममार्ग मेरुदंडसे प्राणोंका ऊपरको आरोहण होवे है इति ॥ २३५ ॥

क्रमेणाभ्यासतो नित्यं प्राणो हित्वा गमागमौ ।
ब्रह्मरंध्रे लयं याति समाधिस्थो भवेन्नरः ॥२३६॥

अर्थ—और फिर नित्यं प्रति क्रमसे केवल कुंभकका अभ्यास करनेसे नासिकाद्वारसे आना जाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्रमे जायकर लीन होजाते हैं तो योगी हठयोग समाधिमे स्थित होजाता है इति ॥ २३६ ॥

खेचरीमुद्रिकाभ्यासादानंदः स्याद्दिनेदिने ।
सर्वसंकल्पसंत्यागात् जगद्विस्मरणं भवेत् ॥ २३७



अर्थ—उक्तरीतिसे खेचरी मुद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे योगीको दिनदिनमे अधिक आनंदकी प्राप्ति होवे है तथा सर्व प्रकारके संकल्पोंके परित्याग होनेसे बाह्य जगत्का विस्मरण होजावे है इति ॥ २३७ ॥

निर्विकल्पसमाधाने मनसो विलयो भवेत् ।
बाह्यविस्मरणादंतर्दृष्टिः समुपजायते ॥ २३८ ॥

अर्थ—जब निर्विकल्प समाधि होवे है तो मनका विलय होजावे है और बाह्यप्रपंचके विस्मरण होनेसे योगीको अंतरहृदयमें प्रकाशरूप दृष्टि उत्पन्न होवे है इति ॥ २३८ ॥

अंतर्दृष्टिप्रकाशेतु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
दृश्यते स्वसमीपस्थं करामलकवत्स्वयम् ॥ २३९॥

अर्थ—और जब उस अंतरदृष्टिका प्रकाश दीर्घकालके अभ्यासस फेल जावे है तो योगीको तीनों

लोकोंके चराचरात्मक सर्व पदार्थ करामलककी न्याईं अपने समीप स्थित स्वयमेव देखनेमे आते हैं इति ॥

बाह्यं विस्मृत्य निद्रायां स्वप्नं पश्येन्नरो यथा ।
समाधिसमये तद्वत् योगी विश्वं प्रपश्यति ॥२४०

अर्थ—जिस प्रकार निद्राकालमें बाह्य प्रपंचको भूलकर मनुष्य स्वप्नको देखता है तैसेहि समाधिकालमें योगी बाह्यप्रपंचको भूलकर अंतरदृष्टिसे जगत्को देखता है इति ॥ २४० ॥



स्वप्नदृष्टपदार्थौघो मृषा भवति निश्चितम् ।
समाधौ त्वमृषा सर्वं वस्तु कार्यकरं तथा ॥२४१॥

अर्थ—परंतु स्वप्न और समाधिमे इतना भेद है कि स्वप्नमे देखे हूये पदार्थसमूह प्रायः करके मिथ्या होतेहैं और समाधिकालमे देखीहूई सर्ववस्तु सत्य और काम करनेवाली होती है इति ॥ २४१ ॥

खेचरीयोगतो योगी शिरश्चंद्रादुपागतम् ।
रसं दिव्यं पिबेन्नित्यं सर्व व्याधिविनाशनम् २४२



अर्थ—किंच खेचरी मुद्राके अभ्याससे योगी मस्तकमे रहनेहारे चंद्रमासे झरता हूया जो सर्वरोगोंके दूर करनेवाला दिव्य रस है तिसका नित्य पान करता है इति ॥ २४२ ॥

प्रथमं लवणं पश्चात् क्षारं क्षीरोपमं ततः ।
द्राक्षारससमं पश्चात् सुधासारमयं ततः ॥ २४३॥

अर्थ—तिस रसका स्वाद प्रथम लवण जैसा होता है और पीछे क्षार जैसा होता है तिसके पीछे दूधके समान होवे है और पीछे दाखके रसके बराबर होवे है तथा अंतमें अमृत जैसा मधुर प्रतीत होवे है इति ॥ २४३ ॥

अमृतास्वादनाद्देहो योगिनो दिव्यतामियात् ।
जरारोगविनिर्मुक्तश्चिरं जीवति भूतले ॥ २४४॥

अर्थ—तिस अमृतरसके खेचरीद्वारा नित्य पान करनेसे योगीका शरीर दिव्य भावको प्राप्त होवे है

और वृद्धपणा तथा सर्व रोगोंसे रहित भया योगी पृथिवीमे चिरकालपर्यंत जीवता है इति ॥ २४४ ॥

अथ नादसमाधिः

अथ नादानुसंधानं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
यस्यानुष्ठानतो योगी परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२४५

अर्थ—अब योगसंप्रदायके क्रमके अनुसार नादानुसंधानका निरूपण करते हैं जिस नादानुसंधान करनेसे योगी परब्रह्मभावको प्राप्त होवे है इति ॥२४५

पद्मासनं समास्थाय स्वस्तिकं वा यथासुखम् ।
कर्णरंध्रयुगं पश्चादंगुलिभ्यां निरोधयेत् ॥ २४६ ॥

अर्थ—पद्मासन अथवा स्वस्तिकासनसे सुखपूर्वक बैठ करके पीछे दोनों अंगुष्ठ अथवा तर्जनी अंगुलियोंसे दोनों कानोंके छिद्रोंको बंधकरे इति ॥ २४६ ॥

निमील्य नयने चित्तं कृत्वैकाग्रमनन्यधीः ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गतं शुभम् ॥ २४७॥

अर्थ—और दोनों नेत्रोंको निमीलन करके तथा

च्चित्तको एकाग्र करके दहने कानकी तरफ च्चित्तवृ-त्तिको लगायकरके शरीरके अंदरसे उठती जो नादकी शुभध्वनि है तिसको श्रवण करे इति ॥ २४७॥

कर्णयोस्त्वेकतानेन रोधनं नैव कारयेत् ।
त्यक्त्वात्यक्त्वांगुलिं मध्ये नादाभ्यासं समाचरेत्॥

अर्थ–नादके श्रवणकालमें कानोंको निरंतर बंद नहि रखना चहिये किंतु बीच बीचमें थोडी थोडी देरके बाद अंगुलियोंको छोडकर नादका अभ्यास करना चहिये क्योंकि कानोंके एकदम बंदकर रखनेसे अभ्यास ठीक नहि होता है यातें धीरेधीरे ज्यादा ज्यादा बंद करनेका अभ्यास करना चहिये इति ॥२४८

अधस्ताद्भुजयोर्दद्यादाधारं काष्ठनिर्मितम् ।
श्रवणे तेन नादस्य न च बाहुश्रमो भवेत् ॥२४९

अर्थ–नाद श्रवणकालमें दोनों भुजोंके नीचे लकडीका बनाहूया आधार रखना चहिये जिसको

बैरागन या आसा कहते हैं तो तिसकरके नादके सुननेसें बाहु थकती नहि हैं इति ॥ २४९ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे ध्वनिर्नादस्य मिश्रितः ।
ततोभ्यासे स्थिरीभूते श्रूयते तु पृथक् पृथक् ॥

अर्थ–प्रथम अभ्यासकालमें तो नादकी ध्वनि मिलीहूई सुन पडती है और जब बहुत दिनोंमें अभ्यासकी स्थिरता हो जावे है तो फिर सर्व नाद जुदा जुदा सुननेमें आते हैं इति ॥ २५० ॥

घंटानादसमः पूर्वं ततः शंखसमो ध्वनिः ।
वीणारवसमः पश्चात् तालनादोपमस्ततः ॥ २५१ ॥

अर्थ–पहले घंटाके शब्दके समान नादकी ध्वनि होवे है फिर शंखकी आवाजकी न्यांई होवे है पीछे वीणाके बजने जैसी ध्वनि होवे है और फिर तालके शब्दके समान प्रतीत होवे है इति ॥ २५१ ॥

वंशीशब्दनिभश्चाथो मृदंगसदृशो ध्वनिः ।
भेरीरवसमः पश्चात् मेघगर्जनसंनिभः ॥ २५२ ॥



अर्थ—तिसके अनंतर बंसीकी आवाजके बराबर ध्वनि सुननेमें आवे है और पीछे मृदंगके शब्दके समान होवे है तिसके पीछे नगारेकी आवाज जैसी होवे है तथा सबके पीछे मेघकी गर्जन जैसी ध्वनि प्रतीत होवे है इति ॥ २५२ ॥

क्रमेणाभ्यासतश्चैवं श्रूयतेऽनाहतो ध्वनिः ।
पृथग्विमिश्रितश्चापि मनस्तत्र नियोजयेत् ॥२५३

अर्थ—इस प्रकार क्रमसे जुदा जुदा अथवा मिलीहूई नादकी ध्वनि अभ्यास करनेसे सुननेमें आती है उसमे मनको लगाकर श्रवण करना चहिये इति ॥

नादारंभे भवेत्सर्वगात्राणां भंजनं ततः ।
शिरसः कंपनं पश्चात् सर्वदेहस्य कंपनम् ॥२५४॥

अर्थ—नादके आरंभकालमें प्रथम शरीरके सर्व अंगोंमें टूटन जैसी प्रतीत होवे है और तिसके पीछे ज्यादा अभ्यासके बढनेसे शिर कांपने लगता है और

फिर कुछ दिनोंमें सारा शरीरहि कांपने लगता है इति ॥ २५४ ॥

अमृतास्वादनं पश्चात् जिव्हाग्रे संप्रवर्तते ।
रोमांचश्च तथानंदः प्रकर्षेणोपजायते ॥ २५५ ॥

अर्थ–तिसके अनंतर कुछ दिनोंमें जिव्हाके अग्रभागमें अमृतका स्वाद प्रतीत होवे है और शरीरमें रोमांच तथा विशेषकरके आनंदका अनुभव होवे है इति ॥ २५५ ॥



नादश्रवणतो योसावानंदो योगिनो भवेत् ।
शक्यते स गिरा वक्तुं मया नात्र कथंचन ॥२५६

अर्थ–नादके श्रवणकालमें योगीको जो आनंद प्राप्त होवे है तिस आनंदको मैं यहां अपनी बाणीसे किसी प्रकारसे कथन नहि करसकता हुं इति ॥

आरंभो योगनिद्रायास्ततः समुपजायते ।
सर्व देहादि विस्मृत्य समाधिस्थो भवेन्नरः ॥ २५७ ॥

अर्थ–तिसके अनंतर योगनिद्राका प्रारंभ होवे है अर्थात् नादकी ध्वनिमें चित्त लीन होवे है और तिस योगनिद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे देहादिक सर्व बाह्य प्रपंचको भूल करके योगी राजयोगसमाधिमें स्थित होय जावे है इति ॥ २५७ ॥

अथवा नादयोगेन शरीरे कृशतां गते ।
सर्वांगेभ्यो भवेत्तूर्णं प्राणस्याकर्षणं ध्रुवम् ॥२५८॥
तं ध्यानेनोर्ध्वमानीय ब्रह्मरंध्रे प्रवेशयेत् ।
तत्रैव स्थिरतां नीत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः ॥२५९

अर्थ–अथवा नाद श्रवणके अभ्याससे हठयोग समाधिभी हो सकती है सो जैसे नाद श्रवणके अधिक अभ्यास करनेसे जब शरीर अत्यंत कृश होजावे तो मूलबंध लगाय कर बैठनेसे शरीरके नीचेके सर्व अंगोंसे प्राणका निश्चयकर आकर्षण होवे है और फिर तिस खिंचे हूये प्राणको नाभि हृदय कंठादि चक्रोंमें पूर्वोक्त रीतिसे ध्यानसें ऊपरको लायकरके

ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करे और तिसको तहांहि ब्रह्मरंध्रमें स्थिर करदेवे तो योगी हठयोग समाधिमें स्थित हो-जावे है इति ॥ २५८।२५९ ॥

नादश्रवणतो नित्यमंतर्लीनं भवेन्मनः ।
नच बाह्यं विजानाति कूपे मग्न इव द्विपः॥२६०॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे नादके नित्यं प्रति श्रवण करनेसे मनकी वृत्ति अंतर्मुख होकर लीन होजावे है और मनके अंतर्लीन होनेसे योगीको बाह्य प्रपंचकी कुछ खबर नहि रहती जैसे गहरे कूयेमें पडे हूये हाथीको बाहिरकी कुछ खबर नहि रहती है इति ॥ २६० ॥

अंतर्लीनमना योगी जगत्सर्वं प्रपश्यति ।
सर्वगुप्तपदार्थानां प्रत्यक्षत्वं च जायते ॥ २६१ ॥

अर्थ—चिरकालपर्यंत मनके अंतर्लीन होनेसे योगीको अंतर्दृष्टिके प्रकाशमें सर्व जगत् देखनेमें आता



है तथा गडी हुई निधि आदिक सर्व गुप्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष अनुभव होवे है इति ॥ २६१ ॥

अंतर्धानस्य शक्तिश्च योगिनो भवति ध्रुवम् ।
संकल्पानुविधायित्वं शरीरस्योपजायते ॥ २६२ ॥

अर्थ—और योगीको दूसरोंके सामने अदृश्य होनेकी शक्ति होवे है तथा शरीरकी स्थिति अपने संकल्पके अनुसार होजावे है इति ॥ २६२ ॥

यथा संकल्पयेद्देहं यथा रूपं यथा गुणम् ।
तथैव जायते सद्यः शरीरं योगिनो ध्रुवम् ॥२६३॥

अर्थ—शरीरके संकल्पानुसारी होनेसे जिस कालमें योगी जैसे स्वरूप वा जैसे गुणवाले शरीरका संकल्प करता है उसी प्रकारका उसी कालमें योगीका शरीर बन जावे है इति ॥ २६३ ॥

एकस्मिन्नेव काले च शरीराणि बहून्यपि ।
निर्माय विहरेल्लोके पुनश्चैको भवेत्क्षणात् ॥ २६४॥



अर्थ–तथा एककालमेंहि योगी संकल्पके बलसे अपने अनेक शरीरोंको निर्माण करके जगतमें विहार करता है और फिर क्षणमात्रमें तिन सर्व शरीरोंका उपसंहार करके एकलाहि रह जाता है इति ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
ध्यानमात्रेण सर्वेषां भूतानां च मनोगतम् ॥२६५॥

अर्थ–किंच भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालकी बातको हेतुके सहित जान लेता है तथा क्षणभरके ध्यानसे सर्व जीव जंतुवोंके मनकी बातको जान लेवे है इति ॥ २६५ ॥

स्वर्गेऽन्तरिक्षे पाताले तथा भूमंडलेऽखिले ।
अव्याहतगतिर्योगी स्वेच्छया विचरेच्चिरम् ॥२६६॥

अर्थ–तथा स्वर्गलोक अंतरिक्षलोक पाताललोक और सर्व पृथिवीमंडलमें अखंडित गतिवाला हूया योगी अपनी इच्छानुसार दीर्घकालपर्यंत विचरता है

इति ॥ २६६ ॥ इसप्रकार नाद श्रवणका फल वर्णन करके अब प्रसंगसे त्राटक मुद्राका निरूपण करते हैं

त्राटकाभ्यासतश्चापि कालेन क्रमयोगतः ।
राजयोगसमाधिः स्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥

अर्थ–खेचरी और नादके समान त्राटकके अभ्यास करनेसेभी धीरेधीरेक्रमसे राजयोगसमाधिकी सिद्धि होवे है सो अब त्राटकका प्रकारभी यहां निरूपण करते हैं इति ॥ २६७ ॥

श्वेतमृत्स्नाप्रलिप्तायां भित्तौ कृत्वा मसीमयम् ।
वर्तुलाकारकं बिंदुं दूरस्थस्तं विलोकयेत् ॥ २६८॥

अर्थ–प्रथम सुपेद मृत्तिका अर्थात् कलीचूनासे लिपीहूई भीतपर पैसेके बराबर स्याहीसे गोलाकार एक बिंदु बनावे और फिर चार पांच हाथ दूर बैठ-कर उसको देखनेका अभ्यास करे इति ॥ २६८ ॥

सुखासने समासीनो निर्जनस्थानगः सदा ।
निमेषवर्जितं नेत्रं शनैस्तत्र नियोजयेत् ॥ २६९॥

अर्थ—अभ्यासकरने कालमें पद्मासन या स्वस्तिकासनसे सुखपूर्वक एकांत स्थानमें बैठना चहिये और निमेषकेबिना एकटक नेत्रोंको उस बिंदुमें लगाना चहिये इति ॥ २६९ ॥

दृष्ट्या समं मनश्चापि लक्ष्यस्थाने प्रवेशयेत् ।
लक्ष्यं विहाय नैवान्यत् चिंतयेन्नावलोकयेत्॥२७०

अर्थ—तथा दृष्टिकेसाथ मनकोभी बिंदुस्थानमें लगाना चहिये बिंदुको छोडकर और किसी तरफ देखना नहि चहिये तथा मनसेभी कुछ चिंतन नहि करना चहिये इति ॥ २७० ॥

दिवा निरीक्षयेद्बिंदुं रात्रौ नक्षत्रमुज्ज्वलम् ।
दीपं वा दूरतो धृत्वा क्रमान्नित्यं समभ्यसेत्॥२७१॥

अर्थ—दिनको तो स्याहीके बिंदुकी तरफ देखना चहिये और रात्रीको जो बिंदुकी तरफ देखना अनुकूल नहि पडे तो आकाशमें किसी प्रकाशवान् तारेकी तरफ या कुछ दूरपर अचल दीपकको रखकर उसकी

ज्योतकी तरफ देखनेका अभ्यास करना चहिये इति ॥ २७१ ॥

यथा धन्वी स्वकं लक्ष्यं वेधयत्यचलेक्षणः ।
तथैव त्राटकाभ्यासं कुर्यादेकाग्रमानसः ॥ २७२ ॥

अर्थ—जैसे धनुषधारी पुरुष अचल दृष्टिसे अपने लक्ष्यको वेधन करता है तैसेहि एकाग्र मनसे योगीको त्राटकका अभ्यास करना चहिये इति ॥ २७२ ॥

यदा मुहूर्तपर्यंतं निमेषोन्मेषवर्जिता ।
स्थिरा दृष्टिर्भवेत्तत्र सिद्धः स्यात्त्राटकस्तदा ॥ २७३ ॥

अर्थ—जिस कालमें दो घटिकापर्यंत निमेष उन मेषसेबिना तिस बिंदुमें दृष्टि स्थिर होजावे तो तब त्राटककी सिद्धि जाननी चहिये इति ॥ २७३ ॥

दृश्यते प्रथमाभ्यासे तेजो बिंदुसमीपगम् ।
चक्षुषो रश्मिजालानि प्रसरंति समंततः ॥ २७४ ॥

अर्थ—त्राटकके अभ्यास करनेमें प्रथम बिंदुके आ-

सपास तेजकी प्रतीति होवे है और फिर थोडे दिन पीछे नेत्रोंकी रश्मियां बिंदुके चारों तरफ फैल जाती हैं इति ॥ २७४ ॥

तेजसा संवृतं लक्ष्यं क्षणं लुप्तं भवेत्ततः ।
क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनर्लुप्तं भवेत्क्षणात् ॥ २७५॥

अर्थ—और फिर तेजकरके ढकाहूया सो बिंदु बीचमें कबी क्षणभर दीखना बंद होजाता है फिर क्षणभरमें दीखने लगता है और फिर क्षणभरमें लोप हो जाता है इति ॥ २७५ ॥

वर्धमाने ततोऽभ्यासे लक्ष्यं हित्वा शनैःशनैः ।
दृष्टिरंतर्मुखत्वेन लीयते मनसासमम् ॥ २७६ ॥

अर्थ—और जब बहुत कालतक करनेसे त्राटकका अभ्यास बढजाता है तो फिर अपने लक्ष्यरूप बिं-दुको छोड करके धीरेधीरे योगीकी दृष्टि अंतर्मुख भई मनके सहित लीन हो जाती है इति ॥ २७६ ॥



यथैवावस्थितं तत्र शरीरं योगिनो भवेत् ।
तथैव प्रतिमाकारं निश्चलं जायते ध्रुवम् ॥२७७॥

अर्थ–तिस कालमें योगीका शरीर जिस प्रकारसे बैठा होता है उसी प्रकारसे चित्रमें लिखी हूई मूर्तिके समान बाह्य ज्ञानसे रहित निश्चल हो जाता है इति ॥ २७७ ॥

क्षणमंतर्मुखो भूत्वा पुनरुत्थानकं व्रजेत् ।
ततो निरीक्षयेल्लक्ष्यं पुनरंतर्मुखो भवेत् ॥ २७८ ॥

अर्थ–इसप्रकार पहले क्षणमात्र अंतर्मुख होयकरके योगी फिर उत्थानको प्राप्त होवे है और फिर उस बिंदुकी तरफ अचल देखते रहनेसे फिर अंतर्मुख होजावे है इति ॥ २७८ ॥

एवं कुर्वन्सदाभ्यासं त्राटकस्य विधानतः ।
चिराभ्यासवशाद्योगी समाधिस्थो भवेद्ध्रुवम् २७९

अर्थ–इस रीतिसे निरंतर विधिपूर्वक चिरकाल

पर्यंत त्राटकके अभ्यास करनेसे योगी निश्चयकरके राजयोग समाधिमें स्थित होजावे है इति ॥ २७९ ॥

समाध्यभ्यासतो नित्यं जायतेंतर्मनोलयः ।
अंतर्दृष्टिप्रकाशश्च तस्य संजायते क्रमात् ॥ २८०

अर्थ–और समाधिके नित्यं प्रति अभ्यास करनेसे योगीका मन अंतरलीन होवे है तथा मनके अंतरलीन होनेसे क्रमसे योगीको अंतर्दृष्टिका प्रकाश उत्पन्न होवे है इति ॥ २८० ॥

करामलकवद्विश्वं तेन योगी प्रपश्यति ।
दूरतो दर्शनं दूरश्रवणं चापि जायते ॥ २८१ ॥

अर्थ–तिस अंतर्दृष्टिके प्रकाशसे करामलककी न्याई योगी सर्व जगत्को देखता है और अपने आपहि दूरके पदार्थ समीप दीखने लगते हैं और दूरकी वार्ता समीप सुन पडती हैं इति ॥ २८१ ॥

यदुक्तं खेचरीयोगे यच्चोक्तं नादचिंतने ।
तत्सर्वं त्राटकाभ्यासात् योगिनो भवति ध्रुवम् २८२

अर्थ–औरभी जो खेचरी मुद्रा तथा नाद श्रवणमें फल वर्णन किये हैं सोभी सबी त्राटकके अभ्याससे योगीको प्राप्त होजाते हैं इति ॥ २८२ ॥

अणिमादिगुणैर्युक्तो विचरेद्भुवनत्रये ।
स्वेच्छया देहमुत्सृज्य कैवल्यं पदमश्नुते ॥ २८३ ॥

अर्थ–इस रीतिसे अणिमामहिमादिक सिद्धियों करके युक्त भया सो योगी तीनो भुवनोंमें स्वतंत्र विचरता है और जिस कालमें उसकी विदेह मुक्त होनेकी इच्छा होवे है तो तिस कालमें अपनी इच्छासे शरीरको परित्याग करके कैवल्य मोक्ष पदको प्राप्त होजावे है इति ॥ २८३ ॥

एतत्संक्षेपतः प्रोक्तं योगस्यांगाष्टकं क्रमात् ।
सर्वेषां योगतंत्राणां सारभूतमसंशयम् ॥ २८४ ॥

अर्थ–यह पूर्वोक्त रीतिसे संक्षेपसे योगके यम नियमादिक आठ अंगोंका क्रमसे निरूपण किया है

सो यह योगके सर्व ग्रंथोंका सारभूत है इसमें कुछ संशय नहि है इति ॥ २८४ ॥

नात्र किंचिदयुक्तं वा नाधिकं किंचिदीरितम् ।
यथानुभूतं दृष्टं च तदेवात्र निरूपितम् ॥२८५॥

अर्थ—इस ग्रंथमें किंचित्मात्रभी अयुक्त तथा अधिक नहि कथन किया है जिस प्रकारका स्वयं अनुभव किया तथा शास्त्रोंमें देखा है सोई यहां निरूपण किया है इति ॥ २८५ ॥

तस्मादास्तिकभावेन कुर्याद्योगस्य साधनम् ।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति निर्वेदान्न जहाति चेत् ॥२८६

अर्थ—यातें साधकपुरुषको आस्तिक भावसे इस ग्रंथके अनुसार योगका अभ्यास करना चहिये और सो अवश्य करके सिद्धिको प्राप्त होवेगा जो कदाचित् अभ्यासके परिश्रमसे उपराम होकर बीचमें नहि छोडेगा तो इति ॥ २८६ ॥



प्रायशो योगयुक्तीनां संनिवेशोऽत्र विद्यते।
तथापि गुरुवक्रेण विज्ञेयास्ता विचक्षणैः॥२८७॥

अर्थ—यद्यपि प्रायः करके योगकी सर्व युक्तियां इस ग्रंथमें लिखी हूई हैं तथापि बुद्धिमान् साधक पुरुषोंको तिन युक्तियोंको योगाभ्यासी गुरुके मुखसेहि सीखनी चहिये इति॥ २८७॥

हठयोगस्य संप्रोक्तो राजयोगस्य वै तथा।
विधिरत्र समासेन क्रमादभ्यासमाचरेत्॥२८८॥

अर्थ—प्राणोंका चडाना रूप जो हठयोग है और मनका विलयरूप जो राजयोग है तिन दोनोंकी विधि संक्षेपसे इस ग्रंथमें कथन करी है सो तिन दोनोंका क्रमसे अभ्यास करना योग्य है इति॥ २८८॥

सततं तु हठाभ्यासं नैव कुर्याद्विचक्षणः।
साधयित्वा हठं पूर्वं राजयोगं ततोऽभ्यसेत्॥२८९॥

अर्थ—बुद्धिमान् योगी पुरुषको चहिये कि सर्वदा

काल हठयोगकाहि अभ्यास न करता रहे किंतु हठ-
योगको प्रथम सिद्ध करके पीछे विशेषकरके राज-
योगकाहि अभ्यास करे इति ॥ २८९ ॥

सर्वेषु योगमार्गेषु शरीरं कृशतां व्रजेत् ।
भयं तत्र न कुर्वीत युक्त्या रक्षेत्कलेवरम् ॥२९०॥

अर्थ—हठयोग हो अथवा राजयोग हो योगके सर्व मार्गोंमें अछीतरे अभ्यास करनेसे शरीर अवश्य कृश होजाता है सो तिसमें साधक पुरुषको भय नहि करना चहिये किंतु युक्तिसे शरीरकी रक्षा करनी चहिये इति ॥ २९० ॥

वर्जयेदशनं रूक्षं स्नानं शीतांबुना तथा ।
पद्भ्यां पर्यटनं चैव स्त्रियं चापि विशेषतः ॥२९१॥

अर्थ—योगीको अभ्यास करने कालमें रूखा भोजन नहि खाना चहिये और शीतकालमें ठंडे पानीसे स्नानभी नहि करना चहिये तथा पैरोंसे चलकर

देशाटनभी नहि करना चहिये और स्त्रीका संग तो अवश्य नहि करना चहिये इति ॥ २९१ ॥

नातिशीते न चात्युष्णे नाति वर्षति तोयदे ।
अभ्यासं वर्द्धयेद्योगी नोचेद्रोगभयं ध्रुवम् ॥ २९२॥

अर्थ–पौष माघके अति शीतकालमें और ज्येष्ठ अषाढके अति उष्ण कालमें तथा अत्यंत वर्षा पडने कालमें योगीको अभ्यासको अधिक नहि बढाना चहिये किंतु साधारण रीतिसे करते रहना चहिये क्योंकि अति शीतादि कालमें ज्यादा अभ्यास बढानेसे शरीरमें अवश्य रोग होनेका डर रहता है इति ॥ २९२॥

देशेऽनुकूले काले च समे स्थाने च निर्मले ।
वर्धयन्नित्यमभ्यासं ध्रुवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥२९३॥

अर्थ–अपनी प्रकृतिके अनुकूल पवित्रदेशमें और शीतोष्ण समकालमें तथा सर्व दोषोंसे रहित निर्मल

शुद्ध स्थानमें योगी नित्यं प्रति अभ्यासको बढावे तो निश्चयकरके सिद्धिको प्राप्त होवे है इति ॥२९३॥

प्राणस्यारोहणे वापि परकायप्रवेशने ।
शरीरमोक्षणे चादौ भोजनं परिवर्जयेत् ॥२९४॥

अर्थ—समाधिमें प्राणके मस्तकपर चडाने कालमें और पर शरीरमें प्रवेश करने कालमें तथा अंतकालमें देहत्याग करने कालमें योगीको थोडे दिन पहले भोजनका परित्याग कर देना चहिये इति ॥ २९४ ॥

निरशनादग्निस्तूर्णं जाठरो दाहकृद्भवेत् ।
काले तदुपशांत्यर्थं क्षीरं नीरान्वितं पिबेत् ॥२९५॥

अर्थ—भोजनके नहि करनेसे जठराग्निसे पेटमें विशेष दाह उत्पन्न होवे है तो तिसके शांत करनेके लिये अनुकूल समयानुसार दूधमें पानी मिलाकर पीना चहिये या मनक्का दाख गुलकंदादिक ठंडी वस्तु खानी चहिये इति ॥ २९५ ॥

स्वतो वा परतो वापि प्रबंधं सर्वमादितः ।
स्थानशिष्याशनादीनां कृत्वा योगं समभ्यसेत् २९६

अर्थ—द्रव्यकी अनुकूलता होय तो अपने आपसे नहि तो किसी धनवान् मित्र या सेवककी सहायतासे अपने अभ्यास लायक स्थानका और ऊपरकी सेवा करनेवाले शिष्य या नौकरका तथा भोजनादि खर्चका सर्वप्रकारसे अनुकूल पहलेसे बंदोबस्त करके पीछे योगाभ्यासका प्रारंभ करना चहिये क्योंकि बिना ठीक बंदोबस्तके दीर्घकालपर्यंत अखंडित अभ्यास नहि चल सकता है इति ॥ २९६ ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्तु शीघ्रं सिद्धिं न कामयेत् ।
कालेन दुरिते क्षीणे स्वतः सिद्धिः प्रजायते २९७

अर्थ—योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगीको शीघ्रहि सिद्धिकी वांछा नहि करनी चहिये किंतु धीरे धीरे अभ्यास करते रहनेसे काल पायकर सर्व संचित पा-



पोंका नाश होजानेसे अपने आपहि सिद्धिकी प्राप्ति होवे है इति ॥ २९७ ॥

शास्त्रवाक्येषु विश्वासो गुरुपादाब्जसेवनम् ।
भक्तिर्विष्णौ शिवे वापि योगस्य सिद्धिहेतवः २९८

अर्थ—शास्त्रोंके वचनोंमें पूर्ण विश्वास होना और योगवेत्ता गुरुके चरणकमलोंकी निष्कपटतासे सेवा करनी तथा विष्णु अथवा शिवमें पूर्णभक्ति होनी इतनी वार्ता योगकी सिद्धिमें कारणभूत हैं इति॥२९८

पथ्याशिनो विरक्तस्य शांतस्यैकांतवासिनः ।
दृढचित्तस्य धीरस्य योगः सिद्ध्यति सत्वरम् २९९

अर्थ—जो योगी पुरुष निरंतर योगाभ्यासके अनुकूल पथ्य भोजन करताहै और सांसारिक विषयोंसें और व्यवहारोंसे विरक्त रहता है तथा रागद्वेषसे रहित शांत चित्तवाला है और सर्वदा काल एकांत स्थानमें निवास करता है और दृढ चित्तवाला तथा

धीरजवान् है तिसको योगकी सिद्धि शीघ्र होवे है इति ॥ २९९ ॥

विघ्ना बहुविधा योगे भवंतीति विनिश्चितम् ।
तथापि साधयेद्योगी योगं धृतिपरायणः ॥३००॥

अर्थ—योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगीको बहुत प्रकारके शरीर रोगादिक विघ्न आय कर अभ्याससे चलायमान करते हैं यह बात निश्चित है तोभी धीरज परायण होकर योगीको अवश्य योगका साधन करना चहिये इति ॥ ३०० ॥

प्रणवस्य जपं कुर्यात् योगारंभे सदा बुधः ।
तदर्थमीश्वरं चापि चिंतयेच्चेतसा मुहुः ॥ ३०१ ॥
सर्वज्ञं सर्वगं शुद्धं दयालुं सर्वकारणम् ।
विघ्नास्तेन विनश्यंति तमांस्यर्कोदये यथा ॥३०२॥

अर्थ—बुद्धिमान् योगी पुरुषको विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये योगाभ्यासके आरंभ कालमें नित्यं प्रति ओंका-

रका जप करना चहिये तथा तिस ओंकारका वाच्यार्थ जो ईश्वर है तिसका मनसे चिंतन करना चहिये सो ईश्वर सर्व जीवोंके कर्मोंके जाननेहारा है और पृथिवी आकाश पाताल सर्व जगामें व्यापक है तथा सर्वत्र व्यापक हूयाभी सर्व दोषोंसे रहित शुद्ध निर्मल है और जीवोंके सर्व अपराधोंको क्षमा करनेवाला दयालु है तथा इस चराचर जगत्के रचनेहारा परम कारण है इस प्रकारसे जप करते वकत वारंवार मनसे चिंतन करना चाहिये तो तिस करके सर्व विघ्नोंका नाश होवे है जैसे सूर्यके उदय होनेसे सर्व अंधेरेका नाश होवे है इति ॥ ३०१ ॥ ३०२ ॥

अभ्यासानंतरं कुर्यात् गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नपि ।
चिंतनं हंसमंत्रस्य योगसिद्धिकरं परम् ॥ ३०३ ॥

अर्थ–तथा योगाभ्यास करने कालसे पीछे चलते बैठते सोते सर्वदा काल योगीको हंसमंत्रका चिं-

तन करना चहिये तिससेभी सर्व विघ्नोंकी निवृत्तिपूर्वक शीघ्र योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ ३०३ ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण पुनर्विशेत् ।
प्राणः सर्वशरीरेषु श्वासोच्छ्वासक्रमेण वै ॥३०४॥

अर्थ—सर्व पशु पक्षि मनुष्यादि शरीरोंमें जो श्वास और प्रश्वासकी गतिसे प्राण चलता है सो हं शब्दसे तो बाहिरको आता है और सः शब्दसे अंदरको प्रवेश करता है इति ॥ ३०४ ॥

हंसोहंसोहमित्येवं मुहुरावर्तनक्रमात् ।
सोहं सोहं भवेन्नूनमिति योगविदो विदुः ॥३०५॥

अर्थ—इस प्रकारसे हंसो हंसो शब्दको बारबार फिरानेसे उलटकर सोहं सोहं होजाता है जैसे बहुतवार मरा मरा कहनेसे राम राम हो जाता है ऐसे योगविद्याके जाननेहारे योगी लोक जानते हैं इति ॥ ३०५ ॥

अजपा नाम गायत्री निरंतरजपात्मिका ।
गिरिजायै पुरा प्रोक्ता शिवेनेयं सुसिद्धिदा ३०६

अर्थ—यह अजपा नामकी गायत्री है अर्थात् इसको अजपा गायत्री कहते हैं सो इसका बिना जप किये अपने आपहि निरंतर जप होता है और यह प्रथम प्रथम महादेवने पार्वतीके प्रति सर्व सिद्धियोंके देनेवाली उपदेशकरी है इति ॥ ३०६ ॥

अस्याश्चिंतनतो नित्यं सर्वदुष्कृतराशयः ।
योगिनां नाशमायांति तृणभारा यथाग्निना॥३०७

अर्थ—इस अजपा गायत्रीके नित्यं प्रति चिंतन करनेसे योगी पुरुषोंके सर्व जन्मजन्मांतरोंके पापसमूह नष्ट होजाते हैं जैसे अग्निसे घासके भारे जलकर नष्ट होजाते हैं इति ॥ ३०७ ॥

क्रमेणाभ्यासयोगेन जायतेंऽतर्मनोलयः ।
प्राणश्च क्षीणतां याति योगनिद्रा प्रजायते॥३०८

अर्थ—दीर्घकालपर्यंत विधिपूर्वक इसके अभ्यास करनेसे मन अंदर लीन होजाताहै और मनके लीन



होनेसें प्राणकी गतिभी क्षीण होजाती है तथा योगनिद्रा उत्पन्न होती है इति ॥ ३०८ ॥

नित्यमंतर्मुखत्वेन परमानंदमात्मनः ।
अनुभूय चिरं योगी कैवल्यपदमश्नुते ॥ ३०९ ॥

अर्थ—और इसके अभ्यास करनेसे सर्वदा काल अंतर्मुख वृत्ति होनेसे योगी आत्माके परम आनंदका चिरकालपर्यंत अनुभव करके पीछे देहांतकालमें परमपद कैवल्य मोक्षको प्राप्त होवे है इति ॥ ३०९

यस्त्वेवमुक्तमार्गेण योगाभ्यासं समाचरेत् ।
नरो वाप्यथवा नारी स याति परमां गतिम् ॥

अर्थ—जो पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे अष्टांग योगका नित्यं प्रति अभ्यास करता है सो पुरुष हो अथवा स्त्री हो दोनोंहि परम गति मोक्षपदको प्राप्त होते हैं इति ॥ ३१० ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्य योगिनः श्रद्धयान्विताः ।
परिचर्यां प्रकुर्वंति शिष्या वा धनिनश्च ये ॥३११॥

ते तस्य पुण्ययोगेन क्षीणपापकदंबकाः ।
अनायासेन गच्छंति ब्रह्मणः सदनं परम् ॥ ३१२॥

अर्थ—तथा योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगी पुरुषकी जो शिष्यवर्ग अथवा धनवान् सेवक लोक अनुकूल अन्न पान स्थान वस्त्रादिकोंसे श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं सोभी तिस योगीके पुण्यके भागी होनेसे सर्वपापोंसे रहित भये देहांतमें अनायाससेहि ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं इति ॥ ३११ ॥ ३१२ ॥

शृणुयादपि यो नित्यं पठेद्वा योगपुस्तकम् ।
श्रद्धया संयुतः सोपि सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ ३१३ ॥

अर्थ—तथा जो पुरुष श्रद्धापूर्वक योगके पुस्तकका श्रवण अथवा पठन करता हैं सोभी सर्वपापोंसे मुक्त होजावे है इति ॥ ३१३ ॥

इतीदं [illegible] क्षेत्रे [illegible]देन योगिना ।
साधकानां हितार्थाय कृतं [illegible] ॥ ३१४

अर्थ—इति शब्दग्रंथकी समाप्तिका वाचक है सो यह [illegible] योगसाधना करनेहारे जिज्ञासु जनोंके हितार्थ स्वामी [illegible]ंद योगीने पु-[illegible]तीर्थमें निर्माण किया है इति ॥ ३१४ ॥

योगात्मा योगकृद्योगी योगिध्येयपदांबुजः ।
योगसिद्धिप्रदोऽनेन प्रीयतामीश्वरो हरिः ॥३१५॥

अर्थ—योगस्वरूप और योगविद्याके निर्माणकर्त्ता तथा स्वयं महायोगी और सर्वयोगियों करके ध्यान करने योग्य चरणारबिंद तथा सर्वदा काल योगसाधकोंको योगकी सिद्धि देनेहारे और सर्व जगत्के ईश्वर जो विष्णु परमात्मा हैं सो इस [illegible] अर्पणसे प्रसन्न होवो इति ॥ ३१५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानंदगिरिशिष्य [illegible]ंदस्वामिविरचितं [illegible] संपूर्णम् ॥


















योगरसायणम्











